प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

राजानक क्षेमराज कृत 'प्रत्यभिज्ञहृदय' का विस्तृत भूमिका तथा टिप्पणियों सहित अनुवाद



कमला बाबा

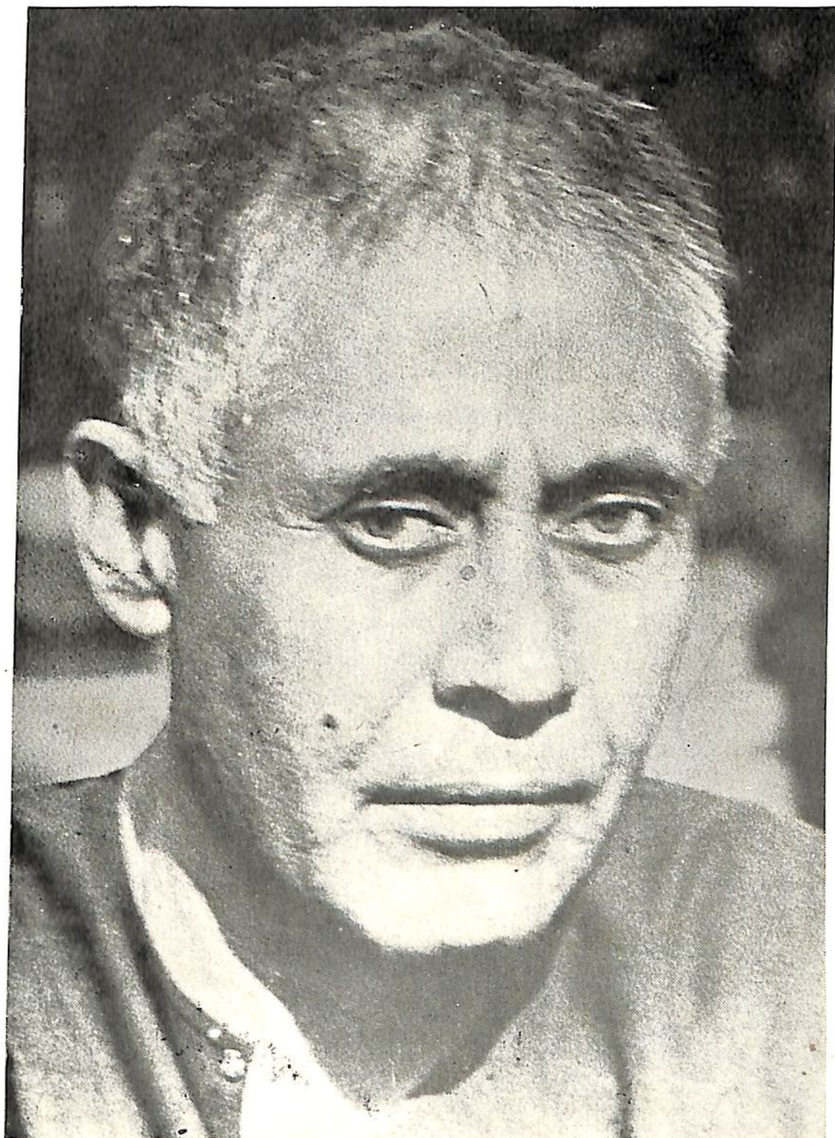
प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

राजानक क्षेमराज कृत 'प्रत्यभिज्ञहृदय' का विस्तृत
भूमिका तथा टिप्पणियों सहित अनुवाद

कमला बाबा

मूल्य—पांच रुपया

श्रीमती कमला बावा द्वारा प्रकाशित तथा
कपूर प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।



मेरे पूज्य गुरुदेव राजानक योगीराज लक्ष्मणजू,
—शैव शास्त्रों के अद्वितीय ज्ञाता व शैव दर्शनों के एकमात्र
प्रवक्ता—के पुनीत चरणों में सादर समर्पित

Photo by Courtesy of Shri A. L Chadha.

आशीर्वाद

शैव-शास्त्र चार शाखाओं में विभक्त हुए हैं। स्पन्द-शास्त्र, कौल-शास्त्र, क्रम-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र। इन चार शाखाओं में प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र की शाखा गम्भीर और महत्वपूर्ण शाखा है। इसका समझना साधारण व्यक्ति की शक्ति से बाहर है। आचार्यअभिनवगुप्त जी के प्रधान शिष्य श्री क्षेमराज आचार्य ने इस उत्तमोत्तम और गम्भीर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन को साधारण भक्तजनों की सुविधा के लिए प्रत्यभिज्ञा-हृदय नाम वाले ग्रन्थ की रचना की। यही 'प्रत्यभिज्ञा-हृदय' आज जनता के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है : जिस शास्त्र को और भी सुविधा के लिए मेरी सच्छिष्या कमला देवी बावा ने सरल रीति से इसकी भाषा-टीका लिख कर विभूषित किया है।

मुझे पूरी आशा है कि इस भाषा-टीका का अवलोकन करने से जनता को पर्याप्त मात्रा में लाभ होगा और जनता इस शास्त्र के गूढ़ मर्मस्थानों को समझ जायेगी।

इस भाषा-टीका को निभाने के लिए मैं कमला देवी को भी आशीर्वाद देता हूँ कि भविष्य में भी वे और शैव-सम्प्रदाय के शास्त्रों के रहस्यमय मर्मों का उद्घाटन करेंगी जिससे जनता को और भी लाभ प्राप्त होगा।

ओम् शांतिः !

—**स्वामी लक्ष्मण जू**
ईश्वर आश्रम,
गुप्त गंगा, काश्मीर

२५ दिसंबर,
ई० १९७३

आमुख

श्री सोमानन्द कृत शिव दृष्टि शास्त्र के आधार पर श्री सोमानन्द के शिष्य श्री उत्पलदेव आचार्य ने श्री प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का निर्माण किया है। इस शास्त्र का स्थान भारतीय दर्शन व संस्कृति में विशेष है। श्री अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या की। परन्तु वह अति गूढ़ होने से साधारण जनता के लिए पूर्णतया लाभदायक न हो सकी। इसका अधिक लाभ केवल पंडित वर्ग तक ही सीमित रहा। इसके पश्चात उनके प्रमुख शिष्य राजानक क्षेमराज ने केवल २० सूत्रों को, जो कि अन्य ग्रन्थों में शक्तिसूत्र के नाम से कहे गये हैं, प्रत्यभिज्ञाहृदयम् के नाम से प्रस्तुत करके उनकी व्याख्या की। इससे बहुत हद तक समस्या का समाधान हो गया।

कश्मीर में मेरे गुरुदेव पूज्य राजानक योगीराज लक्ष्मणजू, गुरु परम्परा से शैव शास्त्रों के अद्वितीय ज्ञाता और शैव दर्शनों के एकमात्र प्रवक्ता व अनुभवी हैं। मुझे प्रत्यभिज्ञा हृदय को साधारण जनता के लिये इसका अनुवाद व व्याख्या करने की मूक प्रेरणा उनके चरणों में बैठ कर ही हुई। मेरे में तो कोई विद्वत्ता इस कार्य को पूर्ण करने की न थी परन्तु श्री गुरुदेव की असीम कृपा से इस भेंट को साधारण जनता के लिये सरल हिन्दी में प्रस्तुत कर सकी हूँ। इस सब का श्रेय मेरे पूज्य गुरुदेव को ही है और उनके पुनीत चरणों में मैं इसको सविनय समर्पण करती हूँ।

विद्वत समाज तो इस शास्त्र से अनभिज्ञ नहीं है। परन्तु मुझे विश्वास हैं कि साधारण जनता भी मेरी इस कृति से अवश्यमेव लाभान्वित होगी।

काशीं निवासी आचार्य पंडित रामेश्वर झा शैव शास्त्र के प्रसिद्ध पंडित हैं उन्होंने कृपा करके मेरीं लिपि का निरीक्षण किया है मैं उनकी आभारी हूँ। डा० डी० बी० सेन, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय जिन्होंने मुझे विद्वतापूर्ण सुझाव दिये हैं और प्रस्तावना भी लिखी है उनके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करती हूँ।

१. डल व्यू, निशात्,
पो० ब्रेन, श्रीनगर (कश्मीर)

— कमला बावा

२. ६।२६, ईस्ट पटेल नगर,
नई दिल्ली-८

प्राक्कथन

भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से दर्शन और धर्म का अविच्छेद्य सम्बन्ध रहा है। जैसा कि दर्शन शब्द के व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ से स्पष्ट है भारतीय दर्शन का मुख्य उद्देश्य तत्त्व ज्ञान नहीं तत्त्व साक्षात्कार कराना है। तत्त्वज्ञान तत्त्वसाक्षात्कार का ही फल है : मनुष्य बुद्धिजीवि होने के नाते तत्त्व के स्वरूप का बुद्धिपूर्वक अवबोध या तत्त्वज्ञान उसके बौद्धिक सन्तोष के लिये आवश्यक है लेकिन तत्त्वज्ञान मात्र से तत्त्वजिज्ञासा शान्त नहीं होती। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में जहाँ एक ओर तत्त्व के स्वरूप का वर्णन और उसकी युक्तिपूर्वक स्थापना की गयी है, वहाँ तत्त्वसाक्षात्कार के मार्ग का भी निर्देश किया गया है। कोई भी साधक उस मार्ग का अनुसरण कर तत्त्वसाक्षात्कारपूर्वक तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह विशेषता प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक प्रस्थानों में पायी जाती है।

भारतीय दर्शन निगम और आगम इन दो धाराओं में प्रवाहित हुए हैं। निगम या वेद से आविर्भूत षड्दर्शन से सभी परिचित हैं। आगम धारा के अन्तर्गत शैव, शाक्त और वैष्णव दर्शनों को माना जाता है। यद्यपि इन सभी दार्शनिक प्रस्थानों का अभ्युदय ईसा से कई शताब्दी पहले हुआ था लेकिन इनका विकसित रूप बहुत बाद में प्राप्त होता है। शैव और वैष्णव विचारधारा अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रवाहित हुई है इसे तो अनेक ऐतिहासिकों तथा विद्वानों ने स्वीकार किया है। देश और काल के प्रभाव से शैवधारा आठ शाखाओं में विभाजित हो गयी। इन शाखाओं में उत्तर भारत में काश्मीर की त्रिकधारा जिसे काश्मीरी शैवमत (Kashmir Saivism) प्रत्यभिज्ञा दर्शन आदि की संज्ञा दी जाती है, और दक्षिण भारत में शैवसिद्धान्त तथा वीर शैवधारा सबसे अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय है।

काश्मीर में त्रिकधारा के प्रवर्तक वसुगुप्त को माना गया है जिन्होंने शिवसूत्रों को प्राप्त कर एक नवीन दार्शनिक विचारधारा को जन्म दिया। उनके उपरान्त इस मत के पोषक अनेक आचार्य हुए जिनमें सिद्ध सोमानन्द, कल्लट, उत्पल भट्ट, रामकण्ठ उत्पल वैष्णव, अभिनव गुप्त क्षेमराज योगराज आदि का नाम लिया जा सकता है। इन शैवाचार्यों ने प्रचुरमात्रा में साहित्य का सृजन कर इस धारा को परिपुष्ट किया।

क्षेमराज द्वारा रचित कुल १० ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं जिनमें कुछ मौलिक ग्रन्थ और कुछ व्याख्या ग्रन्थ या टीका के रूप में हैं। मौलिक रचनाओं में प्रत्यभिज्ञा हृदय, पराप्रवेशिका आदि उल्लेखनीय है।

क्षेमराज ने, जो कि इस परम्परा के मूर्धन्त आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य थे और जिनका समय ११ शताब्दी ईसवी निश्चित किया गया है प्रत्यभिज्ञा हृदय में न केवल त्रिक दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों का वर्णन किया है अपितु इस शास्त्र द्वारा मान्य योगसाधना पर भी प्रकाश डाला है। यह ग्रन्थ वैसे तो लघुकाय है, इसमें केवल २० सूत्र ही हैं जिनकी व्याख्या क्षेमराज ने स्वयं की है, लेकिन त्रिक साधना काल का वर्णन प्रस्तुत करने के कारण कुछ दुर्बोध्य सा हो गया है। इसमें जिस साधना की धारा का वर्णन आया है वह एक विशेष प्रकार की साधना की धारा है जिसके रहस्य को एक साधक ही ठीक तरह से समझ सकता है।

इस ग्रन्थ के अभी तक तीन संस्करण उपलब्ध हुए हैं। मूल ग्रन्थ का सर्वप्रथम जर्मन भाषा में डा० वेग्रर ने अनुवाद किया था जिसको डा० कुर्त एफ लार्डडेकर ने अंग्रेजी में रूपान्तर कर अडयार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित किया। कुछ दिन पहले ठाकुर जयदेवसिंह ने इसका एक अंग्रेजी संस्करण चौखम्बा से प्रस्तुत किया है। वर्तमान संस्करण जिसके देखने का सौभाग्य मुझे मिला, में लेखिका ने गुरु परम्परा से प्राप्त तथ्यों और अपने व्यक्तिगत अनुभूतियों के आधार पर इस ग्रन्थ की व्याख्या हिन्दी भाषा में प्रस्तुत की है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य साधारण जिज्ञासु पाठक को इन शास्त्र से परिचित कर उसमें इस धारा के प्रति रुचि उत्पन्न करना है लेकिन लेखिका ने साधना से सम्बद्ध रहस्यावृत अनेक स्थलों की सरल भाषा में पहली बार व्याख्या करने का स्तुत्य प्रयास किया है। मुझे पूरा विश्वास है कि अपनी अनुभूतियों के आधार पर साधना विषयक जटिल ग्रन्थियों के सफलता पूर्वक खोलने में समर्थ होने के कारण यह ग्रन्थ जनसाधारण द्वारा, साधना में रुचि रखने वाले पाठकों द्वारा विशेषतया समादृत होगा।

००-५-७३

रीडर संस्कृत विभाग **देवव्रत सेन**
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय **एम० ए० पीएच० डी०**
कुरुक्षेत्र (हरयाणा)

भूमिका

शैवधर्म संसार के प्राचीन धर्मों में से एक है। इसकी कई शाखाएं संसार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैली हैं। भारत में इसके चार प्रधान सम्प्रदाय प्रचलित हैं—राजस्थान में पाशुपत शैव, तामिलनाडू में सिद्धान्त शैव, दक्षिण करनाटक में वीर शैव और कश्मीर में 'अद्वैत शैव। इन चारों में कुछ समानता है। परन्तु भेद भी बहुत हैं। यहां हमको कश्मीर के अद्वैत शैव दर्शन का ही उल्लेख वाञ्छनीय है। भारत धार्मिक स्थिति में इतना उन्नत है कि यहां धार्मिक सिद्धान्त केवल सिद्धान्त ही नहीं परन्तु मानुषिक जीवन का अंग है। यों तो यह सिद्धान्त परम्परा से ही प्रचलित है और इसका अनुसरण करके भक्तजन परमपद को प्राप्त हुए हैं परन्तु समय बीतने पर इस का क्रियात्मक रूप केवल मौखिक सिद्धान्त मात्र रह गया और इसका दार्शनिक भाग प्रायः लुप्त हो गया। लगभग ईसा की आठवीं शताब्दी में कश्मीर के शैव सिद्धों को आगम शास्त्रों की प्राप्ति हुई। उन आगमों में से ही एक प्रधान आगम वसुगुप्त का शिव सूत्र है तदनन्तर नवीं शताब्दी में आचार्य श्री सोमानन्द ही पहले पहल इस सिद्धान्त को पूर्णतया लिखित रूप में लाए। इसके पश्चात् इस पर और पुस्तकें भी लिखी गईं। यह क्रम चार शताब्दियों तक ठीक चलता रहा और इतना साहित्य एकत्रित हो गया कि आजीवन स्वाध्याय के लिये पर्याप्त रहा। कुछ पुस्तकें अभी तक भी प्रकाशित नहीं हो सकीं॥

अद्वैत शैव साहित्य तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) आगम शास्त्र, (२) स्पन्द शास्त्र (३) प्रत्यभिज्ञा शास्त्र।

आगमशास्त्र

यह ईश्वरीय माने गए हैं और गुरु से शिष्य को मौखिक रूप में दिए गए माने जाते हैं। कुछ प्रसिद्ध शास्त्र इस श्रेणी के यह हैं—मालिनी विजय, स्वच्छन्द, विज्ञान भैरव, मृगेन्द्र, रुद्र यामल शिवसूत्र, शिव सूत्र पर वृत्ति, भास्कर और वर्ध राज लिखित वार्तिक और क्षेमराज लिखित शिवसूत्रों पर व्याख्या। कुछ तन्त्रों पर टीका भी उपलब्ध है॥

स्पन्दशास्त्र

इसमें अद्वैत दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन है। मुख्य पुस्तकें इसमें यह हैं—

स्पन्द सूत्र अथवा स्पन्द कारिका—इन पर भिन्न-भिन्न टीकाएं भी उपलब्ध हैं। श्री रामकण्ठ लिखित विवृत्ति, श्री उत्पलदेव वैष्णव लिखित प्रदीपिका, श्री क्षेमराज लिखित स्पन्दसन्दोह और स्पन्द निर्णय।

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र

इसमें युक्ति और तर्क वितर्क द्वारा मुख्य शास्त्रीय सिद्धान्त दर्शाये गए हैं। मुख्य पुस्तकें यह हैं ।।

श्री सोमानन्द रचित शिवदृष्टि। एक और विशेष पुस्तक श्री उत्पलदेवरचित ईश्वर प्रत्यभिज्ञा है—श्री उत्पलदेव श्री सोमानन्द का शिष्य था निम्न टीकाएं भी मिलती हैं—लेखक लिखित वृत्ति, श्री अभिनवगुप्त लिखित प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी व प्रत्यभिज्ञा-विवृत्तिविमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र के सार भूत श्री क्षेमराज कृत प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

यह ग्रन्थ उक्त प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त का एक लघ्वाकार ही है जिसकी रचना श्री अभिनव गुप्त के मुख्य व तीव्र बुद्धि शिष्य श्री क्षेमराज ने की है। उनकी विशेष रूप से जीवनी तो कही मिलती नहीं। जो उल्लेख मिलते हैं उनसे ज्ञात होता है कि वे श्री अभिनव गुप्त के प्रमुख शिष्यों में से थे। श्री अभिनव गुप्त अपने समय के संस्कृत के धुरन्धर पंडित विशेषतया तन्त्र, योग, दर्शन, नाटक इत्यादि में मान्य थे। डा० के० सी० पाण्डेय के अनुसार वे १०वीं शताब्दी में प्रसिद्ध थे तदनुसार यह भी कहा जा सकता है कि श्री क्षेमराज भी उनके प्रमुख शिष्य होने के कारण उसी शताब्दी में ही हुए हैं। इन्होंने निम्न ग्रन्थ लिखे है—

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, स्पन्दसन्दोह, स्पन्दनिर्णय, स्वच्छन्दोद्योत, नेत्रोद्योत, शिवसूत्र विमर्शिनी, विज्ञान भैरवोद्योत, स्तवचिन्तामणि टीका, पराप्रवेशिका षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह आदि ।।

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् को अद्वैत शैव साहित्य में वही स्थान दिया गया है जो वेदान्त सार को वेदान्त साहित्य में है, श्री क्षेमराज ने लोकोपकारार्थ पूर्णतया प्रत्याभिज्ञा सिद्धान्त की विस्तार से व्याख्या इस पुस्तक में करके प्रसिद्धि प्राप्त की है। यह ग्रन्थ उन भक्तों के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है जो कि तर्क व साहित्यिक ज्ञान के अभाव से श्री उत्पलाचार्य कृत ईश्वर प्रत्यभिज्ञा शास्त्र को समझने में असमर्थ हैं परन्तु परमपद के लाभ के इच्छुक हैं। अथवा शक्तिपात से युक्त हैं। **प्रत्यभिज्ञा का अर्थ** है—Recognition—पहचानना—आत्मज्ञान। जीव अपने को भूल जाता है और मानसिक व दैहिक ढांचे के साथ अपने आपको एक रूप समझ

लेता है। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् उसको पुनः अपने शिवत्व को पहचानने की युक्ति बतलाता है ताकि आध्यात्मिक स्थिति के ज्ञान को प्राप्त कर जीव शिव रूप हो जावे। इस सिद्धान्त प्रणाली को पांच भागों में विभक्त किया गया है—

१—परमतत्त्व, २—विश्व अथवा सृष्टिक्रम, ३—जीव, ४—बन्धन ५—मुक्ति॥

परम तत्त्व—परमतत्व—परमपद—परसंवित् के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। शुद्ध अन्तर्मुख भावरूप जो विश्राम है। वही परम अनुत्तर धाम है। वह पूर्ण विमर्श-स्वभाव और महाविश्रान्ति पद है। वही तुर्यातीत परम तत्त्व है।

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अनुसार यह प्रकाश विमर्शमय है। इसमें अहन्ता व इदन्ता का भेद नहीं है। यह अहन्ता व इदन्ता की एकता ही है। जीव परम शिव ही है वह केवल प्रकाशमय ही नहीं है विमर्शमय भी है। शैव दर्शन में कहा है कि शिव प्रकाश रूप है तथा स्पन्द रहित है। शक्ति के संयोग से ही उसमें स्पन्द की उत्पत्ति होती है। जब प्रकाशात्मक शिव के साथ शक्ति का तादात्म्य होता है वही संवित् कहलाती है।

शक्तिहीन प्रकाश को स्वतन्त्रता के अभाव से महेश्वर नहीं कहा जा सकता। शिव और परम शिव में यही भेद है कि **शिव शक्तिहीन होने के कारण जड़वत् है** तथा विश्वोत्तीर्ण है किन्तु शक्ति के संयोग से वही शिव परम शिव नाम से कहा जाता है इस स्थिति में यह विश्वोत्तीर्ण होने पर विश्वात्मक भी है। इसी को अनुत्तर भी कहा है।

विश्व-सृष्टिक्रम—परमतत्व—चेतनता—अथवा चिति निरर्थक शब्द नहीं है। इसमें अनन्त शक्तियां हैं और जगत रूप में प्रकट होना इसका स्वभाव ही है। यदि यह भिन्न-भिन्न आकारों में प्रकट न हो तो चिति ही न रहे किन्तु एक जड़ पदार्थ की नाईं हो जावे। तन्त्र में यह भी कहा है कि परम तत्व भिन्न-भिन्न आकारों में प्रकट न हो तो और अपने एकाकीपन में स्थित न रहे तो वह घट के समान हो जावेगा। ऊपर लिखा है कि परम शिव प्रकाश विमर्शमय है इसमें अहन्ता व इदन्ता का भेद नहीं है। **अहन्ता प्रकाश रूप है और इदन्ता चेतन है**—विमर्श-स्वातन्त्र्य रूप है अथवा पूर्ण शक्ति रूप है। इसी शक्ति का दूसरा नाम चिति है अथवा पराशक्ति है। परम शिव की शक्तियां अनन्त हैं किन्तु निम्न पांच शक्तियां प्रमुख हैं—

१—चित्; २—आनन्द; ३—इच्छा; ४—ज्ञान; ५—क्रिया॥

चित् और आनन्द शक्तियाँ ही वस्तुतः शिव का स्वरूप है तथा अन्य तीन शक्तियां शक्ति के अन्तर्गत है।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियां बहिरंग के रूप में कही जाती है।

जीव

जीव केवल मानस-भौतिक शरीर ही नहीं परन्तु कुछ इसके अतिरिक्त भी है। भौतिक शरीर तो केवल पांच भूतों से बनता है। इसे स्थूल शरीर कहा जाता है। इसका मानसिक ढांचा अन्तः करण कहलाता है जो मन, बुद्धि, अहंकार से निर्मित है। यह तीन और पांच तन्मात्र मिलकर पुर्यष्टक कहलाता है यही सूक्ष्म शरीर के नाम से कथित है। इसी में जीव रहता है और इसमें प्राण शक्ति भी अपना कार्य करती है। यह ही ईश्वरीय शक्ति जीव और विश्व में स्थित है। इसके आधार पर सब कार्य चलता है और सब के मध्य में जीव रूप में यही स्थित है जो कि आणवमल के आवरण वश शिव होते हुए भी अणु रूप में सीमित रहता है। आणव मल की उत्पत्ति परम शिव द्वारा आत्मसंकोच करने से होती है, जिसे निग्रह कहा गया है।

बन्धन

आणव मल के आवरण वश अपनी आत्मविस्मृति के कारण ही जीव 'बन्धन' से युक्त होता है। परम शिव की इच्छा शक्ति के सीमित होने पर ही ऐसा होता है। इस भ्रम से युक्त जीव अपने आप को शिव नहीं मानता है और मायीय मल तथा कार्ममल से आवृत होकर जीव अपने को शिव से भिन्न समझने लगता है और आवागमन के चक्र में भटकने लगता है।

मुक्ति

मुक्ति का वास्तविक अर्थ है उक्त मल-रूप आवरणों को हटाना अथवा अकृत्रिम अहं विमर्श को पुनः स्मरण में लाना। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कहा है कि शुद्ध अहम् चेतनता विकल्प का स्वरूप नहीं है क्योंकि विकल्प में अन्य की भी आवश्यकता होती है। साधारण अहन्ता अन्य से सम्बन्धित है। परन्तु आत्म चेतनता किसी भी अन्य का अपोहन नहीं करती है। जब चेतनता होती है तो अकृत्रिम स्वभाव की चेतनता होती है और यही मुक्ति है। मुक्ति स्वात्मचेतनता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आत्मचेतनता अथवा अहंता से चिदानन्द की प्राप्ति होती है। तब चित् विश्वचेतनता में परिवर्तित हो जाता है। शिवचेतनता प्राप्ति का पर्यायवाची है। इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वोत्कृष्ट आनन्द—जगदानन्द प्राप्त होता है। जिससे सब विश्व शिव स्वरूप भासता है। यह मुक्ति केवल युक्ति अथवा दर्शनों पर मनन से प्राप्त नहीं होती है। इसके लिये शक्तिपात अनिवार्य है।

शक्तिपात अथवा अनुग्रह

उच्च संस्कारों के सहित उत्पन्न जीव तीव्र शक्तिपात ग्रहण करते हैं और शीघ्र मुक्ति पद को प्राप्त होते हें। इसी प्रकार दूसरे जीव भी अपने पूर्व संस्कारों के अनुसार मध्यम व मन्दशक्तिपात ग्रहण करते हैं और क्रम से अपने समय पर मुक्त हो जाते हैं। किन्तु शक्तिपात में यह ध्यान देने की विशेष बात है कि भगवान अपनी स्वतन्त्र शक्ति द्वारा ही जीव पर कृपा करते हैं इसमें पात्र कुपात्र का भेद कुछ नहीं रहता। केवल भगवान अपनी इच्छा से लीला के बहाने सब कुछ करते हैं। मन्द मात्रा में कृपा प्रकट होने पर भी दीर्घकाल में परम लक्ष्य तक पहुँचा ही देती है। किन्तु जिस कृपा द्वारा परम लक्ष्य तक पहुंचा न जा सके वह वास्तव में कृपा नहीं—कृपा का आभास है। भगवान की अनुग्रह शक्ति जब तीव्र मात्रा में संचार करती है तो केवल सद्ग्रंथों का अवलम्बन लेने पर विकल्पों का क्षय करती हैं। अनुग्रह की मन्द तथा तीव्र गति में भेद केवल इतना ही रहता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि भगवदनुग्रह प्राप्त होने पर भगवत् चरणों में स्थिति अवश्य होगी—शीघ्र हो या विलम्ब से। जो निष्काम हैं वही भगवत् शक्ति को धारण करने के सर्वोत्कृष्ट अधिकारी हैं। भगवत् कृपा प्राप्त करने के लिये तीन उपाय कहे हैं—

१. आणवोपाय; २. शाक्तोपाय; ३. शाम्भवोपाय।

आणवोपाय—भक्त साधनों, अनुशासन व शास्त्रीय विधियों द्वारा ही आत्मसाक्षाकार की ओर अग्रसर होता है और इससे धीरे-धीरे मन एकाग्र होता जाता है और प्राण सूक्ष्म होते जाते हैं, जिसके फलस्वरूप प्राणों में शनैः-शनैः साम्यता आ जाती है इसके उपरान्त सुप्त कुण्डलिनी के जागरण वश सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुल जाता है—इसे भेदोपाय भी कहते हैं। क्योंकि भक्त जब इस उपाय द्वारा आत्मसाक्षात्कार की ओर अग्रसर होता है तो भेदभाव से युक्त होता है और धीरे-धीरे भेदभाव का परित्याग करके पूर्णता को प्राप्त करता है। इस उपाय में भक्त प्राण व मन को ही एकाग्र करके आगे उन्नति करता है। इसे क्रियोपाय भी कहा है जिस के अनुसार निरन्तर मंत्र जाप से भक्त उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है।

शाक्तोपाय—इसमें भक्त अपनी आन्तरिक वृत्तियों को दमन करके समावेश का लाभ प्राप्त करता है। इसमें प्रायः मन्त्रशक्ति ही उन्नति की राह पर ले जाती है जिसके बल से भक्त प्रतिभाज्ञान प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप भेदभाव का परित्याग करता जाता है और अन्ततः भेदभाव का परासंवित् में विलय हो जाता है और वह "मैं शिव ही हूँ" की भावना को प्राप्त करता है और बिश्व उसे अपना ही विकास रूप भासता है। आणवोपाय से भिन्न इस उपाय में केवल मन

ही सर्वथा कार्य में लाया जाता है। इसे ज्ञानोपाय भी कहते हैं क्योंकि मानसिक क्रियायें ही इसमें मुख्य समझी जाती हैं। इस उपाय से सुषुप्त कुण्डलिनी मूलाधार से उठ कर जागृत अवस्था को प्राप्त होती है। और इसी उपाय द्वारा आत्म-साक्षात्कार हो जाता है परन्तु इसमें प्राणों के संयम की आवश्यकता नहीं होती। इसे भेदाभेद उपाय भी कहते हैं क्योंकि यह भेद व अभेद दोनों पर निर्भर है।

शाम्भवोपाय—यह उपाय केवल उच्च कोटि के साधकों के लिए है जो कि अपने शिवत्व का चिन्तन करते-करते परम शिव भाव को प्राप्त करते हैं। यह निरन्तर चेतनता में स्थित रहने का मार्ग है। ऐसा भक्त **पंचक्रिया** के अन्वेषण से आरम्भ करके विकल्पक्षय की साधना तक अभ्यास करता है कि विश्वचिति भगवती की ही एक परछाईं मात्र है। परन्तु अन्त में यह भावना भी त्यागनी पड़ती है फिर शुद्ध अहन्ता की प्राप्ति होती है।

इन तीनों के अतिरिक्त अनुपाय भी है—

अनुपाय अर्थात् लघूपाय—वास्तव में यह कोई उपाय नहीं है। शक्ति पात द्वारा ही यह प्राप्त होता है। इसमें बिना किसी आधार व अवलम्बन के ही योगी पूर्णाहन्ता स्वरूप को प्राप्त होता है। श्री क्षेमराज का दृष्टिकोण उक्त उपायों के विस्तार से भिन्न है। उनके विचार में मध्यनाड़ी के विकास से चिदानन्द की प्राप्ति होती है। आणवोपाय में मध्यनाड़ी सुषुम्णा नाड़ी को ही कहा है। शाक्तोपाय में मध्यनाड़ी परासंवित् ही है और शाम्भवोपाय में यह अकृत्रिम अहं है। इन उपायों के अनुसार मध्यनाड़ी का विकास ही भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा प्राप्त करना ध्येय है। परन्तु श्री क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदय के सूत्र १८ में मध्यनाड़ी के विकास के लिये निम्न उपाय बतलाते हैं अर्थात् विकल्प क्षय; शक्ति संकोच, शक्तिविकास; वाहच्छेद और आद्यन्तकोटिपरिशीलन।

प्रत्यभिज्ञा में **पंचक्रिया** पर चिन्तन और विकल्पक्षय के अभ्यास करने पर ही बल दिया गया है।

इस मत के अनुसार शिव की नाईं पञ्चकृत्य जीव में भी निरन्तर होते रहते हैं। भक्त जन इस क्रिया को आन्तरिक भाव द्वारा ही चिन्तन करें ताकि उच्चतम चेतनता का विकास हो। स्थान व काल की प्रतीति जीव के लिए सृष्टि है जो वह देखता है। उसको स्थिर करना ही उसके लिए स्थिति है। और अहंता में लय होना ही उसके लिए संहार है। आत्म संकोच ही पिधान कहलाता है अथवा अभेद में जो भेद का अभासन होता है वही पिधान है। और अन्त में जब जीव पशुभाव को त्याग कर शिव-भाव को ग्रहण करता है उसी को अनुग्रह कहा है।

अन्य उपाय—विकल्प क्षय—मन मायिक विचारों में निमग्न रहता है और दुःख को प्राप्त होता है। बिकल्प क्षय के अभ्यास का उद्देश्य है मन को क्षोभ से हटाना अथवा मानसिक विक्षिप्तता से मन को परे करना और आत्म चिन्तन का अभ्यास करना इस चेतनता का अभ्यास चित्त को विश्रान्त करने से और मन से कुछ भी विचार न करने से होता है परन्तु चेतनता का परित्याग न हो। ऐसे अभ्यास से समावेश की प्राप्ति होती है। निरन्तर समावेश की अवस्था को ही पूर्ण समावेश माना गया है। वास्तव में क्रममुद्रा ही नित्योदित समाधि का स्वरूप है इसके प्राप्त होने पर सारा जगत ही चिद्रस से व्याप्त दीखता हैं। अर्थात् इस अवस्था में जड़ पदार्थ वर्ग भी ईश्वरीय प्रकाशमय ही आभासित होते हैं और सार्वभौमिक चेतनता का स्वरूप धारण करते हैं। ऐसी अवस्था में जगत का परित्याग नहीं किया जाता बरन् जगत रूप में ही आनन्द का स्रोत प्रवाहित होता है। जीव वास्तव में आकृत्रिम अहंविमर्श को प्राप्त होता है। यही जीवन मुक्ति की अवस्था है। जीव का उद्देश्य आत्मचेतन्ता और विश्व को एक रूप करना है। साधारण जीव को सकल कहा जाता है इस पर तीन प्रकार के आबरण हैं—कार्ममल[1], मायीयमल[2] व आणवमल[3]॥

नाना योनियों में से पार होकर फिर कभी जीव में आध्यात्मिक चिन्तन स्फुरित होता है जो कि प्रथम परम शिव के अनुग्रह से होता है। यदि फिर भी वह सचेत न हो और न्यून प्रकार के योग में ही मस्त रहे तो वह प्रलयाकल बनता है और कार्म मल, मायीय मल तथा आणब मल के आवरण से आवृत रहता है। यह कोई ऊँची अबस्था नहीं। सृष्टि के संहार के समय वह प्रलयाकल अवस्था में ही पड़ा रहता है।

जब कार्म तथा मायीय मल को त्याग कर जीव अग्रसर होता है तो विज्ञानाकल की अवस्था को प्राप्त होता है उसमें ज्ञान व इच्छा रहती है परन्तु क्रिया नहीं॥

इसके उपरान्त जब सकल (जीव) तीनों प्रकार के मलों को त्याग देता है तो क्रम से मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और शिव-प्रमातृ-पद को प्राप्त करता है। तब शिवप्रमाता को विश्व शिव रूप ही भासने लगता है और विशुद्ध शिबमय आत्मस्वरूप में समष्टि रूप से पूर्णाहन्ता को ग्रहण कर प्रतिष्ठित होता है। योगी

---

१. कार्मअल—पुण्य-पाप की वासना से जिस मल का उद्भव होता है वह कार्ममल कहलाता है॥

२. मायीय मल—माया से युक्त मल जो कि जीव के स्थूल व सूक्ष्म शरीर उत्पन्न कराने का हेतु है अर्थात् वेद्य वस्तु को अपने स्वरूप से भिन्न समझना ही मायीयमल है॥

३. आणव मल—अणु भाव से सम्बन्धित मल जो कि जीव की सविभौतिक चेतनता को सीमित करता है और जोकि अलपज्ञता को उत्पन्न करता हैं।

उस मार्ग में शिवत्व के प्रकाश का अनुभव करता है और उसके सब आवरण नष्ट हो जाते हैं और वह अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता हैं ।।

—कमला बावा

१. डल व्यू, निशात
पो० ब्रेन, श्रीनगर
(कशमीर)
२. ६/२६, ईस्ट पटेल नगर
नई दिल्ली-८

ॐ नमो मङ्गलमूर्तये

अथ

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने ॥१॥
शांकरोपनिषत्सारप्रत्यभिज्ञामहोदधेः ।
क्षेमेणोद्ध्रियते सारः संसारविषशान्तये ॥२॥

इह ये सुकुमारमतयोऽकृततीक्ष्णतर्क शास्त्रपरिश्रमाः शक्तिपातोन्मिषत—पारमेश्वरसमावेशाभिलाषिणः कतिचित् भक्तिभाजः तेषाम् ईश्वर प्रत्यभिज्ञोपदेशतत्त्वं मनाक् उन्मील्यते—

चिदानन्दघन—चेतनानन्दमय—अपनी ही आत्मा सर्वोपरि वस्तु है। जो अपने चिदानन्दमय स्वात्मा का अवभासन—प्रकाशन करता हुआ निरन्तर पञ्चकृत्य—अनुग्रह, निग्रह, संहार, स्थिति और सृष्टि या जीव दृष्टि से सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह—विधान के स्वभाव वाला शिव है। वही परम तत्त्व है। उसको मैं नमस्कार करता हूँ।

(इस शास्त्र में नमस्कार करने का अर्थ अन्य शास्त्र की तरह अन्य के उत्कर्ष-ज्ञापन पूर्वक अपने लिए अपकर्ष=ज्ञापन नहीं है। अपितु उत्कर्ष विशेष से अपने को एक करना—उसमें लीन हो जाना—उसमें तन्मय हो जाना है) शांकरोपनिषद् नामक अथवा विज्ञान-भैरव नामक शिव कथित ग्रंथ प्रसिद्ध है। उसका सारभूत प्रत्यभिज्ञा शास्त्र है जिसे महामाहेश्वराचार्य श्रीमान् उत्पलदेव ने लिखा है। वह अत्यधिक न्याय-निर्णययुक्त होने से अगाध समुद्र जैसा है। मैं क्षेमराज उसी ग्रन्थ में से सारभूत प्रतिपादित विषय को निकाल कर यहाँ प्रतिपादित करता हूँ, जिससे संसार रूपी विष का शमन हो। इस प्रत्यभिज्ञाहृदय ग्रंथ को जो कोई भी समझ लेगा, उसे संसार दुःखप्रद नहीं लगेगा। इस ग्रंथ में वर्णित सत्य को हृदयंगम करते हुए जो इसे अनुभव कर लेगा, अर्थात् इसमें समाविष्ट हो जायेगा, वह अपने को परम शिव रूप अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्त हो जावेगा॥

इस संसार में जो लोग अपरिपक्क बुद्धि वाले हैं, जिन्होंने कठिन तर्क शास्त्र के अनुशीलन में घोर परिश्रम नहीं किया है, किन्तु परमेश्वर द्वारा शक्तिपात हो

जाने से शिव-भक्ति सम्पन्न हैं और परमेश्वर के समावेश के जो इच्छुक हैं, शक्तिपात होने के कारण परमेश्वर में तन्मयता के लिये जिनकी तीव्र अभिलाषा होती रहती है, उन लोगों के लिये ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विषयक जो उपदेश है, उसका तत्त्व तनिक प्रकट करता हूँ।

टिप्पणी

श्री क्षेमराज जी ने ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा शास्त्र से ही सार निकाल कर प्रत्यभिज्ञाहृदय शास्त्र की रचना उन भक्तों पर कृपा करने के लिए ही की है, जो भक्ति सम्पन्न हैं अथवा शक्तिपात से युक्त हैं तथा परमेश्वर के समावेश के अभिलाषी हैं किन्तु तीक्ष्ण तर्क शास्त्र के मनन में असमर्थ हैं।

तत्र स्वात्मदेवताया एव सर्वत्र कारणत्वं सुखोपायप्राप्यत्वं महाफलत्वं च अभिव्यङ्क्तुमाह—

चितिः स्वतंत्रा विश्वसिद्धि हेतुः ॥१॥

'विश्वस्य'—सदाशिवादेः भूम्यन्तेस्य 'सिद्धौ-निष्पत्तौ, प्रकाशने, स्थित्यात्मनि, परप्रमातृ विश्रान्त्यात्मनि च संहारे पराशक्तिरूपा 'चितिः' एव भगवती 'स्वतन्त्रा-अनुत्तर विमर्शमयी शिव भट्टारकाभिन्ना' हेतुः'—कारणम्। अस्यां हि प्रसरन्त्यां जगद् उन्मिषति व्यवतिष्ठते च निवृत्तप्रस्वरायां च निमिषति;—इति स्वानुभव एव अत्र साक्षी। अन्यस्य तु माया प्रकृत्यादेः चित्प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानत्वेन असत्त्वात् न क्वचिदपि हेतुत्वम्; प्रकाशमानत्वे तु प्रकाशैकात्म्यात् प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः, न त्वसौ कश्चित्। अत एवं देशकालाकारा एतत्सृष्टा एतदनुप्राणिताश्च नैतत्स्वरूपं भेत्तुमलम्-इति व्यापक-नित्योदित-परिपूर्णरूपा इयम्—इत्यर्थलभ्यमेव एतत्।

ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्; अभेदे च कथं हेतुहेतुमद्भावः? उच्यते चिदेव भगवती स्वच्छ स्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्त जगदात्मना स्फुरति—इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभावः यतश्च इयमेव प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयस्य विश्वस्य सिद्धौ—प्रकाशने हेतुः, ततोऽस्याः स्वतन्त्रापरिच्छिन्नस्वप्रकाशरूपायाः सिद्धौ अभिनवार्थप्रकाशनरूपं न प्रमाणवराकमुपयुक्तम् उपपन्नं वा तदुक्तं त्रिकसारे।

स्वपदा　　स्वशिरश्छायां　　यद्वल्लङ्घितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात्तथेयं वैदवी कला॥इति॥

यतश्च इयं विश्वस्य सिद्धौ पराद्वयसामरस्यापादनात्मनि च संहारे हेतुः, तत एव स्वतन्त्रा। प्रत्यभिज्ञात स्वातन्त्र्या सती, भोगमोक्षस्वरूपाणां विश्वसिद्धीनां हेतुः। इति आवृत्या व्याख्येयम्। अपि च 'विश्वं नील-सुख-देह-प्राणादि; तस्य या 'सिद्धिः प्रमाणोपारोहक्रमेणविमर्शमयप्रमात्रावेशः सैव 'हेतुः'—परिज्ञाने उपायो यस्याः। अनेन च सुखोपायत्वमुक्तम्. यदुक्तं श्री विज्ञानभट्टारके।

ग्राह्यग्राहक संवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोऽयं संबंधे सावधानता ।। इति ।।

'चितिः—इति एकवचनं देशकालाद्यनवच्छिन्नताम् अभिदधत् समस्त भेदवादानाम् अवास्तवतां व्यनक्ति । 'स्वतंत्र'—शब्दो 'ब्रह्मवादवैलक्षण्यम् आचक्षाणः चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते। 'विश्व'—इत्यादिपदम् अशेषशक्तित्वं, सर्वकारणत्वं, सुखोपायत्वं महाफलं च आह ।।१।।

इस तत्वकथन में सर्वप्रथम यह प्रकट करने के लिये कि अपनी आत्मा ही देवता है, वही विश्व के सब पदार्थों का कारण है और वह सुलभ उपाय द्वारा प्राप्त होने योग्य है; स्वात्मदेवता ही सब फलों से बड़ा फल है, यह कहने के लिये ही उपरोक्त सूत्र है ।

सूत्र १—चेतन—शिव—अपनी आत्मा की जो स्वातंत्र्य-शक्ति है, उसी को चिति कहते हैं। वही विश्व की सिद्धि में कारण है क्योंकि वह सब कुछ करने में स्वतन्त्र है। भोग मोक्ष दोनों को वही दर्शाती है।

विषयोपरागरहित चेतन की स्वरसवाहिनी स्फुरत्ता ही चिति है जिसे स्वातन्त्र्य कहते हैं। स्वतन्त्र चित् शक्ति स्वेच्छा से ही सम्पूर्ण जगत्—विश्व की सिद्धि में कारण है। इस सूत्र में "विश्व" शब्द का अर्थ है—सदाशिव तत्व से लेकर पृथ्वीतत्व पर्यन्त ३४ तत्व। इनकी सिद्धि यह होती है :—उत्पत्ति स्थिति और संहार में प्रकाशित होना, पुनः पर प्रमातृत्व रूप शिवस्वरूप अपने आप में विश्रान्त होना ही उत्पत्ति, स्थिति और संहार है। यह सब कार्य पराशक्ति रूपा तुर्यातीत चिति भगवती अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा से करती है। यह चिति सबसे श्रेष्ठ अहं रूपी विमर्श युक्त परम शिव से अभिन्न है। जगत की उत्पत्ति का कारण यह चिति ही है। शक्ति रूपा चिति के उन्मिषित होने फैलने पर—जगत उद्भूत होता है, स्थिर होता है। इस प्रकार जब निमिषित होता है तब संसार विलीन हो जाता है अर्थात् संसार नहीं रहता है।

दूसरे शब्दों में—शक्ति रूपा चिति के प्रसारित—फैलने पर जगत प्रकट होता है और चिति के निमेष करने पर अर्थात् संकोच करने पर जगत का संहार होता है। इसको अपने अनुभव से ही देखिये। अपना अनुभव ही इसमें साक्षी है—प्रमाण है।

शब्दार्थ—चिति से अन्य जो ब्रह्मवाद में माया व सांख्य में प्रकृति आदि को जगत का कारण कहा गया है वह कदापि संभव नहीं। क्योंकि प्रकाशरूप चिति से भिन्न तो अप्रकाशमान ही होगा। अप्रकाशमान की तो सत्ता ही नहीं हो सकती। वह किसी वस्तु के लिये कारण कैसे हो सकता है। यदि माया आदि को भी प्रकाशरूप मानें तब तो वह प्रकाशरूप चिति से अभिन्न ही होगा। इसलिये प्रकाश-

रूप चिति ही कारण है, न कि माया प्रकृति आदि कोई भी। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि देश, काल, आकार आदि जो प्रकाशमान हैं, वह भी इस चिति के द्वारा ही रचे हुए हैं, अर्थात् प्रकाशित हैं—जीवित हैं—सत्तालाभ किये हुए हैं। तब यह चिति के स्वरूप का भेदन करने में अर्थात् उसे अनेक रूपों में प्रकट करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। अतएव देश काल और आकार इस चिति से ही उत्पन्न हुए हैं और जीवित हैं। इसके स्वरूप का भेदन करने के लिये अन्य कोई भी समर्थ नहीं है। इत्यतः यह व्यापक नित्योदित और परिपूर्ण है। यह चिति रूपा शक्ति शिव से अभिन्न होने से विश्व सृष्टि की मूल कारण है। इसका रूपान्तर नहीं होता। परन्तु प्रसार तथा संकोच होता है। शक्ति ही जगत का रूप लेकर प्रकट होती है। इससे यह सिद्ध हो गया कि यह चिति व्यापिका है यह चिति नित्योदिता है और परिपूर्ण रूपा है। यह चिति देश काल आदि द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। इसका अवच्छेदक कोई भी नहीं है। इसलिये यह अखण्ड है।

"ननु" शब्द का अर्थ श का होना—तो शंका यह होती है कि यदि संसार को चिति से भिन्न मानें तो फिर यह जगत ठहर नहीं सकता, और यदि इस संसार को चिति से अभिन्न ही माना जाये तो फिर कार्य कारण भाव कैसे सिद्ध होगा कारण से तो—कार्य भिन्न हुआ करता है। तो सुनिये कहता हूं—भगवती चिति ही स्वच्छ स्वतन्त्र रूपा है। वही इस अनन्त जगत रूप से स्फुरित हो रही है, अर्थात् चमक रही है। बस इतना ही कार्य कारण भाव है। क्योंकि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय रूप ही तो जगत् है। उसकी सिद्धि में अर्थात् प्रकट होने में चिति ही हेतु है। पीछे कहे अनुसार यह चिति ही प्रमाता—प्रमाण तया प्रमेय वर्गों को अर्थात् अनन्त जगत को प्रकट करने में कारण (हेतु) है। इसकी अखण्ड सत्ता में स्वातन्त्र्य अभिन्न रूप से विद्यमान है। इस प्रकार स्वतन्त्र है। बिच्छेद रहित है। स्वयं प्रकाश रूप है। इसे सिद्ध करने के लिये यहाँ कोई भी प्रमाण उपयुक्त नहीं है। इसलिए स्वतन्त्र, अपरिच्छिन्न स्वप्रकाशरूप इस चिति को सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। और न कोई प्रमाण हो ही सकता है। क्योंकि इसके तुल्य अथवा समानता में कोई वस्तु है ही नहीं।

टिप्पणी—जिन दो प्रकार की वस्तुओं में समानता होती है, उन्हीं का एक दूसरे के प्रति प्रमाण दिया जाता है। किन्तु चिति के तुल्य कोई भी वस्तु नहीं, इसलिये उसके प्रति किसी अन्य वस्तु का प्रमाण कैसे दिया जा सकता है।

इसी अभिप्राय से त्रिकसार नामक ग्रन्थ में कहा गया है—

जैसे कोई अपने पैरों से अपने सिर की छाया का उल्लंघन करने की चेष्टा करे तो सिर की छाया कभी भी अपने पैरों के स्थान पर नहीं आ सकती अर्थात् सिर की छाया को अपने ही पाँव द्वारा लांघना चाहे तो पाँव की जगह से और आगे

अपने सिर की छाया ही जावेगी, अर्थात् अपने पैरों द्वारा अपने सिर की छाया का उल्लंघन नहीं किया जा सकता । वैसे ही प्रमाण द्वारा चिति को—वैन्दवीकला को समझने वाले की दशा होगी, अर्थात चिति को उसी से निर्मित बुद्धि आदि से समझना संभव नहीं है ।

स्वतन्त्रता विश्व सिद्धि हेतुः—इस पद की दो बार आवृत्ति करके दो अर्थ करते हैं कि यह चिति विश्व की सिद्धि में और परावृय रूप—सामरस्य रूप संहार में हेतु है । इसकी यह स्वतन्त्रता अभिज्ञात हो जाने पर यह भोग मोक्ष रूप—विश्व सिद्धि की हेतु हो जाती है—यह दूसरा अर्थ हुआ । क्योंकि यह चिति भगवती जगत की सिद्धि का कारण है अथवा जगत को प्रकट करने का कारण है—पूर्ण रूप है—सामरस्य पद में प्रतिष्ठित कराने वाली है तथा अखिल जगत की आत्मा है । इसी से यह स्वतन्त्र रूपा है, भोग तथा मोक्ष को देने वाली है अथवा जगत की सिद्धि की हेतु है ।

विश्व सिद्धि हेतु पद की बहुव्रीही समास द्वारा चिति का विशेषण बना कर अर्थ करते हैं । और विश्व है नील पीत सुख देह प्राण आदि सब कुछ । इसकी सिद्धि का अर्थ हैं—इन्द्रियों द्वारा इन विषयों को विमर्शमय प्रमाता में प्रविष्ट कराना, अर्थात् विश्व सिद्धि का अर्थ है । विषयों का ज्ञान होना—अतः यह ज्ञान ही हेतु है अर्थात् समझने का उपाय हैं ।।

अब इसी सूत्र द्वारा यह भी दिखलाते हैं कि यह सुलभ उपाय है जिस चिति का विश्व ज्ञान द्वारा ही भान होता है, उस चिति को समझने का उपाय सुलभ है । इसी कथन में विज्ञान भैरव का प्रमाण देते हैं । ग्राह्य अर्थात् विषय ग्राहक अर्थात् प्रमाता, संवित्ति अर्थात् ज्ञान—यह तो सब देहधारियों को एक ही समान है, किन्तु योगियों की यह विशेषता होती है कि सम्बन्ध में सावधान रहते हैं । अर्थात् योगी—"मैं ही ग्राहक हूँ—यह नहीं भूलता है इस प्रकार स्पष्ट है कि विषयों को ग्रहण करते समय भी चिति का साक्षात्कार होता है ।

टिप्पणी :—सब देहधारियों को ग्राह्य और ग्राहक अर्थात् प्रमेय और प्रमाता का ज्ञान एक जैसा ही है । किन्तु योगिकों में यह विशेषता है कि जब ग्राह्य और ग्राहक का सम्बन्ध होता है उस समय उन्हें आत्मावस्था का भान होता है । प्रमाता सदा प्रमेय के साथ सम्बन्धित रहता है, किन्तु चैतन्य के बिना प्रमेय नाम की कोई वस्तु ही नहीं । इसका अनुभव योगियों को सदा होता रहता है ।

चित्तिः इति एकवचनं······इस सूत्र में चिति तो एक वचन है । वह चिति की देशकाल आदि अवच्छेदक शून्यता प्रकट करता है । और सारे भेदवाद की अवास्तविकता प्रकट करता है ।

अर्थात् यह देश तथा काल के द्वारा संकुचित—सीमित नहीं है। अथवा चिति देश काल आकार आदि द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। इसका अवच्छेदक कोई भी नहीं है। इसलिये यह अखण्ड है। इसी प्रकार स्वतन्त्र शब्द-ब्रह्मवाद अर्थात् वेदान्त से इस शास्त्र की विलक्षणता कहता है। अतः यहां स्वतन्त्र शब्द यह प्रकट करता है कि पराशक्ति ही चिति का स्वरूप है और चिति माहेश्वर्य रूपा अर्थात् स्वतन्त्र है। विश्व सिद्धि हेतु—पद चित् की सर्वशक्तिमत्ता सर्वकारणता सुखोपायता एवम् महाफलता को बतलाता है।

टिप्पणी :—विश्व—जो शब्द है वह इस बात का परिचायक है—परिचय देता है—कि चिति भगवती अनन्त शक्ति-सम्पन्ना है, सबकी कारण रूपा है, स्वात्मा है अखिल जगत की आत्मा है। मुक्ति का सरल सुखोपाय तथा महाफल अर्थात् अन्तिम लक्ष्य है। उसके द्वारा उस परम स्थिति को अथवा आत्मावस्था को प्राप्त किया जा सकता है।

सूत्र में स्वतन्त्र शब्द यह प्रकट करता है कि पराशक्ति ही चिति का स्वरूप है। यह चिद्रूपा शक्ति जड़ शक्ति नहीं है, किन्तु शक्ति दृष्टि से यह शक्ति परमेश्वर की अचिन्त्य महिमा या स्वातन्त्र्य है।

ब्रह्मवाद का सिद्धान्त इससे भिन्न है और उसमें चिति की स्वतन्त्रता अंगीकृत नहीं, उसमें चिद्रूपा शक्ति जड़ है। वेदान्ती शक्ति को मानते हैं. परन्तु वह शक्ति माया रूपा है जिसको मिथ्या कहा जाता है।

ननु विश्वस्य यदि चितिः हेतुः तत् अस्या उपादानाद्यपेक्षायां भेदवादापरित्यागः स्यात्-इत्याशंक्य आह

स्वेच्छया स्वाभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ॥२॥

'स्वेच्छया,' न तु ब्रह्मादिवत् अन्येच्छया, तयैव च, न तु उपादानाद्यपेक्षया,—एवं हि प्रागुक्त स्वातन्त्र्यहान्या चित्त्वमेव न घटेत—'स्वाभित्तौ,' न तु अन्यत्र क्वापि प्राक् निर्णीतं "विश्वं' दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नामिव 'उन्मीलयति'। उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरणम्।—इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तं ॥२॥

शंका होती है कि यदि चित्ति विश्व की कर्त्री है, तो इसको उपादान अर्थात् समवायि कारण की अपेक्षा होती होगी। जैसे घट बनाने वालों को मिट्टी की अपेक्षा होती है। तब तो अभेदवाद न हुआ प्रत्युत भेदवाद ही सिद्ध हुआ। इस पर यह दूसरा सूत्र कहा गया है। कि

सूत्र २—चित्ति भगवती अपनी इच्छा से न कि ब्रह्मादि की भांति अन्य की इच्छा से—एवं अपनी इच्छा मात्र से ही न कि किसी उपादान आदि को लेकर विश्व

सृष्टि करती है। यदि अन्य की अपेक्षा करे तो पूर्व कथित इसका स्वतन्त्र्य ही नहीं रहता। एवं स्वभित्ति में ही अर्थात् अपने में ही—न कि अन्यत्र कहीं पर—पूर्व कथित विश्व को दर्पण में नगर आदि के प्रतिबिम्बवत् अभिन्न को ही भिन्न जैसा उन्मीलित करती है, अर्थात् प्रकट करती है (स्थित वस्तु को प्रकट करने का अर्थ उन्मीलन है) अर्थात् केवल अपनी इच्छा द्वारा अपनी स्वरूप रूपी भित्ति पर—अन्य किसी आधार पर नहीं—यह चित्ति जगत् को प्रकट करती है। अपनी ही इच्छा द्वारा—किसी अन्य की इच्छा से नही—

टिप्पणी :—अतः उपादान और निमित्त कारणों की इसे अपेक्षा नहीं है।। यदि ऐसा मान लें कि उपादान और निमित्त कारणों की इसे अपेक्षा है, तो पूर्व कथित स्वतन्त्रता का निषेध हो जाने से चिति सिद्ध नहीं हो सकती, अर्थात् पूर्व में कहीं चैतन्यता का खण्डन हो जाता है। चित्ति पूर्व निर्धारित—निर्णीत जगत को प्रकट करती है अर्थात् जो जगत मयूराण्डरसवत् उसमें पहले से ही विद्यमान रहता है, उसी को प्रकट करती है। इसका अभिप्राय यह है कि विश्व—प्रकाशरूप आत्मा शिव से अभिन्न रूप है।

अथ : बिश्वस्य स्वरूपं विभागेन प्रति पादयितुमाह।

तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्।।३।।

'तत्' विश्वं 'नाना'—अनेक प्रकारम्। कथं? अनुरूपाणां—परस्परौचित्यवस्थितानां 'ग्राह्याणां ग्राहकाणां च' 'भेदात्'—वैचित्र्यात्। तथा च सदाशिवतत्वे अहन्ताच्छादितास्फुटेदन्तामयं यादृशं परापररूपं विश्वं ग्राह्यं, तादृगेव श्रीसदाशिवभट्टाकारकाधिष्ठितो मंत्रमहेश्वराख्यः प्रमातृवर्गः परमेश्वरेच्छावकल्पिततथावस्थानः। ईश्वरतत्वे स्फुटेदन्ता—हन्तासामानाधिकरण्यात्म यादृक् विश्वं ग्राह्यं, तथाविध एव ईश्वरभट्टारकाधिष्ठितो मंत्रेश्वरवर्गः। विद्यापदे श्रीमदनन्तभट्टाकारकाधिष्ठिता बहुशाखावान्तरभेदभिन्ना यथा भूता मन्त्राः प्रमातार तथाभूतमेवयथाभूतमेव भेदैकसारं बिश्वमपि प्रमेयम्। मायोर्ध्वे यादृशा विज्ञानाकलाः कर्तृ ताशून्यशुद्धबोधात्मानः तादृगेव तदभेदसारं सकलप्रलयाकलात्मक—पूर्वावस्थापरिचितम् एषां प्रमेयम्। मायायां शून्यप्रमातॄणां प्रलयकेवलिनां स्वोचितं प्रलीनकल्पं प्रमेयम्। क्षितिपर्यन्तावस्थितानां तु सकलानां सर्वतो भिन्नानां परिमितानां तथाभूतमेव प्रमेयम्। तदुत्तीर्णशिव भट्टारकस्य प्रकाशैकवपुषः प्रकाशैकरूप एव भावाः। श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशैकधनस्य एवं विधमेव शिवादि-धरण्यन्तम अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति; न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा; अपितु श्री परमशिबभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरति।—इत्यभिहितप्रायम्।।३।।

अब संसार के स्वरूप को पृथक्-पृथक रूप से कहने के लिये आगामी सूत्र है।

सूत्र ३—इस सूत्र का अर्थ यह है कि यह विश्व नाना अर्थात् अनेक प्रकार का है अपने अनुरूप ग्राह्य ग्राहक अर्थात् विषय-विषयि के भेद सें ।।

इन भेदों को आचार्य स्पष्ट रूपेण दिखलाते हुए कहते हैं कि यह विश्वरूप शिव अनेक प्रकार का है—कैसें ? अनुरूप परस्पर अपनी-अपनी स्थिति के अनुकूल ग्राह्य और ग्राहक की विचित्रता सें जैसें सदाशिव तत्त्व में अहन्ता सें आवृत अस्फुट इदन्ता अर्थात् अहं में अंकुरित इदन्ता रूप जैसा परापर रूप अर्थात् भेदाभेदमय ग्राह्य अर्थात् विषय है, वैसें ही श्री सदाशिव देव सें अधिष्ठित अर्थात् सदाशिव भट्टारक स्वामी वाले मन्त्र महेश्वर कहलाने वाले प्रमातृवर्ग भी हैं। परमेंश्वर ने इन लोगों की वैसी ही स्थिति बनाई है। एवं ईश्वर तत्व में स्फुट इदन्ता तथा अहन्ता की समानता होने सें समान अहन्ता इदन्ता वाला जेसा ग्राह्य विश्व हैं वैसें ही उस तत्त्व में रहने वाले ईश्वर भट्टारक स्वामी वाले मन्त्रेश्वर वर्ग प्रमाता लोग हैं शुद्ध विद्या तत्व से नीचे माया से ऊपर बीच में महामाया में स्थित जैसे विज्ञानाकल नाम वाले कर्तृता से रहित अर्थात् अहम् विमर्श रहित शुद्धबोध स्वरूप प्रमाता लोग हैं उन लोगों का वैसा ही उनसे अभेदमय प्रमेय है। जो उसको पूर्व अवस्था सकल तथा प्रलयाकाल अवस्था में परिचित थी। माया तत्व में शून्य प्रमाता लोग प्रलय केवली नाम वाले हैं। उन लोगों का प्रमेय उनके अनुरूप ही प्रलीन रूप ही है। अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म वासनामय है। पृथ्वी पर्यन्त अवस्थित जो सकल नाम वाले परस्पर भिन्न परिमित स्वरूप वाले प्रमाता लोग हैं, उनके वैसे ही भिन्न-भिन्न परिच्छिन्न प्रमेय हैं। माया से पार जो प्रकाश मात्र देह वाले शिव भट्टारक हैं, उनके प्रमेय भी प्रकाशमय ही हैं। श्रीमान् परमशिव का जो कि विश्व से उत्तीर्ण है, विश्व स्वरूप हैं, परमानन्दमय प्रकाशैकघन हैं, उनमें उनके जैसा ही अर्थात् प्रकाशमय ही शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त निखिल विश्व अभेदमय ही है। न तो अन्य कुछ ग्राहक है और न ग्राह्य है। किन्तु स्वयं परमशिव भट्टारक ही इस प्रकार अनन्त विचित्रता के रूप से प्रस्फुरित हो रहे हैं। यह बात तो पहिले कह चुका हूँ।

टिप्पणी—

विश्व का वैचित्र्य ग्राह्य और ग्राहक के वैचित्र्य से है। सदाशिव तत्व में ग्राह्य विश्व परापर—भेदाभेद रूप है। क्योंकि यहां इदन्ता किञ्चिन्मात्र उन्मेष को प्राप्त है और अहन्ता द्वारा आच्छादित है। प्रकाश की आत्मस्वरूप में जो विश्रान्ति है, उसी का नाम अहन्ता है। यहां के प्रमाता को मन्त्रमहेश्वर कहते हैं। इनके अधिष्ठाता भगवान सदाशिव हैं। ईश्वर तत्व में ग्राह्य विश्व में इदन्ता और अधिक परिस्फुट है। एवं वहां अहन्ता का प्रभाव उसकी अपेक्षा न्यून हैं। इस भूमिका में अहन्ता और इदन्ता का समानाधिकरण्य ही प्रकट होता है। यहां के प्रमातृ वर्ग को मन्त्रेश्वर कहते हैं, जिनके अधिष्ठाता हैं ईश्वर भट्टारका यहां तक अभेद है ।। शुद्ध

विद्यातत्व में श्रीमान् अनन्त भट्टारक अधिष्ठातृ देवता हैं, मन्त्र वर्ग प्रमाता हैं। वे प्राणी अनेक शाखाओं के कारण अनेक भेदों से युक्त हैं। जिस प्रकार—मन्त्रवर्ग प्रमाता हैं, उसी प्रकार उनका विश्व प्रमेय भी है। ये प्रमाता भेदभाव युक्त हैं, तो इनका प्रमेय विश्व भी भेद प्रधान ही है।

उसके उपरान्त शुद्ध विद्यापद में ग्राह्य विश्व भी भेद प्रधान-भेदैकसार और ग्राहक या प्रमाता भी वैसा ही है। यहां के प्रमाता को मन्त्र कहते हैं। इन सब प्रमाताओं की अधिष्ठात्री शुद्ध विद्या है। मायातत्त्व से परे जिस प्रकार कर्तृत्व से शून्य तथा शुद्ध बोधात्मा विज्ञानाकल हैं उसी प्रकार का उनका प्रमेय भी है। वह सकल और प्रलयाकल में पूर्व अवस्थित अवस्थाओं के अनुरूप उनके प्रमेय है। माया भूमिका के प्रमाता प्रलय केवली हैं। वह शून्य के प्रमाता हैं। उनका प्रमेय भी प्रलीन कल्प है। पृथ्वी तत्व से सदाशिव पर्यन्य जो तत्त्व हैं, वह भिन्न अथवा सीमित हैं। उनके आश्रित नाना प्रकार के प्रमाता हैं, तथा उनके अनुरूप प्रमेय भी हैं। उनके ऊपर शिव भट्टारक अवस्थित है। वहां सब कुछ प्रकाशात्मक है। पुनः परम शिव इस शिव की ही परम स्थिति का नाम है। वह विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों एक साथ ही हैं॥

परमानन्दघन घनीभूत प्रकाश सदाशिव तत्त्व से पृथ्वीतत्व पर्यन्त अखिल सत्ताओं में अभेद रूप से स्फुरित होता है। इस प्रकार ग्राह्य तथा ग्राहक का किञ्चित् मात्र भेद नहीं रहता है॥

तब ज्ञात होता है कि एक मात्र परम शिव भट्टारक ही अनन्त बिचित्र रूपों और आकारों में स्फुरित प्रकट होता है॥

टिप्पणी—

विज्ञानाकल और प्रलयाकल दोनों ही प्रकार के जीव देह इन्द्रिय आदि से शून्य हैं। परन्तु प्रलयाकल में कर्म वासना रहती है। इसलिये नूतन सृष्टि में वह प्रमाता फिर से देह और इन्द्रियां प्राप्त करके उत्पन्न होते हैं॥ किन्तु विज्ञानाकल प्रमाताओं में कर्म वासना नहीं रहती। उन्होंने विवेक और ज्ञान के बल से वह अवस्था प्रप्त की होती है। विज्ञानाकल की अवस्था दो प्रकार की होती है। एक में स्वतन्त्रता नहीं अपितु बोध है। दूसरी अवस्था में स्वतन्त्रता है किन्तु बोध नहीं है॥

परम शिव का अर्थ है शक्ति सहित शिव॥ शक्ति हीन प्रकाश अथवा शक्ति हीन शिव स्वतन्त्रता अथवा शक्ति के अभाव के कारण महेश्वर नहीं कहा जा सकता॥

यथा च भगवान् विश्व शरीरः, तथा
चितिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः ।।४।।

श्रीपरमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं सदाशिवाद्यु चितेन रूपेण अवबिभासयिषुः पूर्वं चिदैक्याख्यातिमयानाश्रित शिवपर्याय शून्यातिशून्यात्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति, ततः चिद्रसाश्यानता रूपाशेष तत्व भुवन—भाव—तत्तत्प्रमात्राद्यात्मतयापि प्रथते। यथा च एवं भगवान् विश्वशरीरः तथा चिति संकोचात्मा संकुचितचिद्रू पः; 'चेतनो' ग्राहकोऽपि वटधानिकावत् संकुचिताशेषविश्वरूपः। तथा च सिद्धान्तवचनम्

विग्रहो विग्रही चैव सर्व-विग्रहविग्रही ।।इति।। त्रिशिरोमतेऽपि
सर्व देव मयः कायस्तंचेदानीं श्रणु प्रिये।
पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम् ।।

इत्युपक्रम्य—

त्रिशिरो भैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः।
इत्यन्तेन ग्रन्थेन ग्राहकस्य संकुचितविश्वमयत्वमेव व्याहरति ।।

अयं च अत्राशयः—ग्राहकोऽपि अयं प्रकाशैकात्म्येन उक्तागमयुक्त्या च विश्वशरीर शिवैकरूप एव, केवलं तन्मायाशक्तया अनभिव्यक्त स्वरूपत्वात् संकुचित इव आभाति; संकोचोऽपि विचार्यमाणः चिदैकात्म्येन प्रथमानत्वात् चिन्मय एव, अन्यथा तु न किंचित्। इति सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव ।। तदुक्तं मयैव—

अख्यातिर्यदि न ख्याति ख्यातिरेवावशिष्यते।
ख्याति चेत् ख्याति रूपत्वात ख्यातिरेवावशिष्यते ।। इति।

अनेनैव आशयेन श्री स्पन्दशास्त्रेषु—
यस्मात् सर्वमयो जीवः·········।

इत्युपक्रम्य

तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः।
इत्यादिना शिवजीवयोरभेद एव उक्तः। एतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव मुक्तिः, एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव च बन्धः, इति भविष्यति एव एतत् ।।४।।

जैसे भगवान शिव सम्पूर्ण विश्व देह वाला है वैसे ही ।

सूत्र ४—चित्ति के संकोच वाला चेतन अर्थात ग्राहक भी संकुचित विश्व देह वाला है ।

टिप्पणी—

जैसे भगवान् विश्व शरीर रूप है वैसे ही चैतन्य अथवा शिव रूप होने पर भी चिति जब संकोच को ग्रहण करती है, तब यह चैतन्य रूप शिव भी संकुचित जगत् रूप ही भासता है ।।४।।

इस बात को स्पष्ट करके समझाने के लिये टीकाकार सृष्टि प्रक्रिया दिखलाते हुए कहते हैं कि श्री परम शिव अपने में अपने से अभिन्न रूप में स्थित विश्व को सदाशिव आदि पृथ्वी पर्यन्त समुचित क्रम से अवभासित करने का इच्छुक जब होता है, तब पहले पहल अनाश्रित शिव आदि शब्द से कहा गया है । दूसरे नाम वाला शून्याति शून्यरूप चिदैक्यता की अख्याति अर्थात भान न होना ही है । यह भी प्रकाशमान होता हुआ प्रकाश ही है । प्रकाश से भिन्न कुछ नहीं है । सब कुछ चित् ही है, अर्थात मैं ही हू । ऐसे ज्ञान का अभाव हो जाना ही अनाश्रित शून्यातिशून्य, अनाश्रित शिव आदि शब्द से कहा गया है । तदनन्तर चिदरस के जम जाने से समस्त सदाशिव आदि उन उन तत्त्व भुवन लोक तथा भाव अर्थात प्रमेय और उन उन प्रमेयों के प्रमाता रूप से भी वही परम शिव प्रकाशित होने लगता है । जैसे भगवान पूर्वोक्त प्रकार से विश्व शरीर वाला है, उसी प्रकार चिति के संकुचित हो जाने से चिद्रूप ही चेतन अर्थात ग्राहक-प्रमाता भी बट बीज के समान संकुचित सम्पूर्ण विश्व रूप है । श्री परम शिव विश्व को प्रकट करने की इच्छा से अनाश्रित शिव दशा को शून्यातिशून्यदशा को—प्राप्त होता है यह दशा शक्ति से नीचे और सदाशिव दशा से ऊपर है । इस दशा को प्राप्त होने के उपरान्त वह भिन्न-भिन्न रूपों और आकारों में प्रकट होता है, अर्थात चिति रूपी रस स्थूलता को प्राप्त होता जाता है । फिर ३६ तत्त्व ११२ लोक, सम्पूर्ण पदार्थ तथा नाना प्रमेय वर्गों में विकसित होता जाता है । अर्थात विविध तथा विचित्र दृश्यों के आकारों में भासमान होता है जैसे यह बात सिद्ध करने के लिये कहा है कि भगवान ही जगत-सृष्टि रूप में भासमान होता है वैसे ही चित्ति के संकोच ग्रहण करने पर सम्पूर्ण जगत बट बीज की न्याई संकुचित हो जाता है ।

टिप्पणी—

परम शिव—सृष्टि के आदि से जो अव्यक्त पूर्ण निराकार, और शून्य स्वरूप, तत्त्वातीत प्रपञ्चातीत तथा व्यवहार पथ से भी अतीत वाणी और मन के अगोचर हैं वही परम शिव हैं । परम शिव अन्तर्लीन विमर्श अथवा शुद्ध प्रकाश मात्र हैं ।

अनाश्रित शिव दशा—

यह दशा शक्ति से नीचे और सदा शिव दशा से ऊपर है। शक्ति हीन शिव ही अनाश्रित शिव के नाम से प्रसिद्ध है, अर्थात् उसमें जड़ता आ जाने के कारण व स्फुरण न रहने के कारण एक प्रकार से अविद्या से भरा है, परन्तु शक्ति के योग से वही अनाश्रित शिव परम शिव पद को प्राप्त करता है।

शिव—

चैतन्यात्मक रूप का नाम शिव है।

यह चिति भगवती अदृश्य चिन्मय स्वरूप में स्थित रह कर भी व अनन्त जगत के आकारों में स्फुरित होकर भी अपने अद्वैत चित्स्वरूप से स्खलित नहीं होती।

इसलिये सिद्धान्त वचन भी ऐसा ही है कि—एक भी देह और देही सब देह और देही रूप है। सब शरीर अपने से भिन्न सब शरीर और शरीरी रूप हैं—इति।

त्रिशिरो भैरव मत में भी यही कहा गया है कि—

तीन शिर वाला अर्थात इच्छा ज्ञान क्रिया शक्तियों से युक्त जो भैरव अर्थात सब पदार्थों को धारण करने वाला है, वह सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करके स्थित है। इस प्रकार ग्राहक ही सँकुचित विश्वमय है। अर्थात प्रमाता निज स्वरूप में स्थिर रह कर भी विश्वरूप में स्थिर हो रहा है।

इस सूत्र का यह आशय है कि यह ग्राहक जो प्रमाता है सो प्रकाश स्वरूप होने से पूर्वोक्त आगम प्रमाण से और युक्ति से विश्वशरीर वाला शिव रूप ही है। केवल मात्र अपनी माया शक्ति के द्वारा अपने रूप को न प्रकट करने से ही संकुचित जैसा भासित होता है। विचार करने पर संकोच भी चिद्रूप ही है। क्योंकि चित्-स्वरूप हो करके वह प्रकाशित होता है। इसलिये चिन्मय ही है। यदि चिद्रूप न हो, तो वह कुछ भी नहीं। चिद्रूप प्रकाश से भिन्न तो किसी का अस्तित्व ही नहीं है। इसलिये सब ग्राहक अर्थात प्रमाता विश्व शरीर वाला शिव ही है। जैसा कि मैंने कहा है कि अख्याति अर्थात अपना अज्ञान ही यदि प्रकाशित नहीं होता है, तब तो अपना ज्ञान ही रहा। यदि वह प्रकाशित होता है तब तो प्रकाश रूप होने से वह अज्ञान भी अपना ज्ञान ही है। इति ॥

इस आशय से स्पन्द शास्त्र में भी कहा है कि जीव सर्वमय है जीव से सभी भावों की उत्पत्ति होती है। उन भावों के ज्ञान से ही तादात्म्य की सिद्धि हो जाती है। इसलिये किसी भी शब्द में अर्थ में या चिन्ता में वह अवस्था नहीं है जो शिव-रूप न हो। ऐसा प्रारम्भ में कहा है। ऐसी अवस्था का सर्वदा अभाव है जो शिवमय

न हो । क्योंकि भोक्ता ही सब काल में सब जगह भोग्यरूप से रहता है। इसी कारणवश जीव और शिव में एकता—अभेद कहा गया है । इन दोनों में अभेद का विज्ञान ही मुक्ति है । इस तत्व का ज्ञान न होना ही बन्धन है ।

टिप्पणी—

शिव अपने प्रकाश स्वरूप में स्थिर रह कर भी अनन्त जगत रूप में स्फुरित हो रहा है। परम स्वातन्त्र्य रूपा अपनी माया शक्ति के द्वारा आवृत होने के कारण संकुचित जैसा दृष्टिगोचर होता है । प्रमाता के संकोच ग्रहण करने पर और प्रसर शील होने पर ही भेद दिखाई देता है। वास्तव में भेद नहीं है। केवल अखण्ड चिन्मय स्वरूप ही अनन्त रूपों और भावों में स्फुरित होता है, जैसा कि मैंने पहले भी कहा है।

टिप्पणी—

नानारूपों में आभासमान होना ही उत्पत्ति अथवा शक्ति का प्रसारशील होना कहा गया है और अपने निजस्वरूप में जब शक्ति प्रतिष्ठित होती है, इसी को इसका संकोच ग्रहण करना कहा गया है ।।

इस अभिप्राय से श्री स्पन्द शास्त्र में भी विचार किये जाने पर ज्ञात होता है कि ऐसी कोई अवस्था नहीं है जो शिव स्वरूप न हो। यहाँ शिव और जीव का अभेद बतलाया गया है । इस तत्व के परिज्ञान को ही मुक्ति कहते हैं और इस परिज्ञान के अभाव को ही बन्धन कहते हैं ।

ननु ग्राहकोऽयं बिकल्पमयः, विकल्पनं च चित्तहेतुकं; सति च चित्ते, कथमस्य शिवात्मकत्वम् ? इति शङ्कित्वा चित्तमेव निर्णेतुमाह

चितिरेव चेतन पदादवरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम् ।।५।।

न चित्तं नाम अन्यत् किंचित्, अपितु सैव भगवती तत् ।

तथा हिसा स्वं स्वरूपम् गोपयित्वा यदा संकोचं गृह्णाति, तदा द्वयी गतिः । कदाचित् उल्लासितमपि संकोचं गुणीकृत्य चित्प्राधान्येन स्फुरित, कदाचित् संकोच प्रधानतया । चित्प्राधान्यपक्षे सहजे प्रकाशमात्रप्रधानत्वे विज्ञानाकलता; प्रकाश परामर्श प्रधानत्वे तु विद्याप्रमातृता । तत्रापि क्रमेण संकोचस्य तनुतायाम्, ईशसदाशिवानाश्रितरूपता । समाधिप्रयत्नोपार्जिते तु चित्प्रधानत्वे-शुद्धाध्वप्रमातृता क्रमात्क्रमं प्रकर्षवती । संकोचप्राधान्ये तु शून्यादिप्रमातृता । एवमवस्थिते सति "चितिरेव' संकुचितग्राहकरूपा चेतनपदात् अवरूढ़ा अर्थग्रहणोन्मुखी सती 'चेत्येन' नील-सुखादिना 'संकोचिनी' उभय-संकोच संकुचितैव चित्तम् । तथा च

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः ।।

इत्यादिना स्वातन्त्र्यात्मा चित्तिशक्तिरेव ज्ञानक्रिया-मायाशक्ति-रूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्षात् सत्व-रजस्तमः स्वभावचित्तात्मतया स्फुरति—इति श्रीप्रत्यभिज्ञायामुक्तम् । अतएव श्रीतत्त्वगर्भ स्तोत्रे विकल्पदशायामपि तात्त्विक-स्वरूपसद्भावात् तदनुसरणाभि प्रायेण उक्तम् ।

अतएव तु ये केचित्परमार्थानुसारिणः ।
तेषां तत्र स्वरूपस्य स्वज्योतिष्ट्वं न लुप्यते ।। इति ।।५।।

अब शंका होती है कि यह ग्राहक जो प्रमाता है वह तो विकल्प रूप है । विकल्प तो चित्त से होता है । चित्त के रहते यह प्रमाता किस प्रकार शिव से अभिन्न होकर स्थित हो सकता है । ऐसी शंका करके चित्त क्या है, इसका निर्णय करने के लिये इस सूत्र को कहते हैं—

सूत्र—५—चेतन स्थिति से अर्थात् विमर्श से हटी हुई चिति भगवती ही चेत्य अर्थात् विषय द्वारा संकुचित होकर चित्त कहलाती है ।

अथवा यों कहें कि चित्ति ही चैतन्य पद से उतर कर चेत्य से संकुचित होने के कारण चित्त कहलाती है । चित्त नाम की और कोई दूसरी वस्तु नहीं है

यह स्वयं चिति भगवती ही है। चित नाम की कोई दूसरी वस्तु नहीं है क्योंकि वही संविद् भगवती चित्त है। संवित् इस प्रकार चित्त बनती है कि वह अपने स्वरूप को छिपाकर, दबाकर जब संकोच ग्रहण करती है, तब दो अवस्थाएँ बनती है। कभी ऐसा होता है कि उल्लिसित अर्थात् उद्भूत संकोच को भी अप्रधान करके चित् प्राधान्य रूप से ही स्फुरित होती रहती है और कभी संकोच प्रधान रूप से स्फुरित होती है। चिति चित्त प्रधान रूप से स्फुरित होने पर भी स्वाभाविक प्रकाश रूप से स्फुरित होने पर विज्ञानाकल अवस्था वाले प्रमाता रूप से प्रकट होती है। प्रकाश के परामर्श प्रधान रूप होने पर विद्या की अवस्था वाले विद्या प्रमाता लोग होते हैं। वहाँ पर भी क्रम से संकोच कम हो जाने पर ईश्वर, सदाशिव, अनाश्रित शिव अर्थात् शून्यातिशून्य रूप होते हैं और समाधि प्रयत्न द्वारा चित् की प्रधानता होने पर शुद्धाध्वा प्रमाता की अवस्था क्रम से उत्कृष्ट होती चली जाती है अर्थात् विद्येश्वरता, ईश्वरता सदाशिवता, शक्तिरूपता, शिवता की स्थिति प्राप्त होती है और संकोच की प्रधानता होने पर शून्य प्रमाता, बुद्धि प्रमाता आदि की सृष्टि होती है। ऐसी स्थिति होने पर चित् ही संकुचित ग्राहक रूप होकर चेतन स्वरूप से नीचे जाकर और विषय के प्रति ग्रहणोन्मुखी बनकर चेत्य अर्थात् नील पीतादि रूप विषयों से विषय वाली बनकर संकुचित होने पर चित्त कहलाती है। इसलिये प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में कहा गया कि विश्वात्मा भगवान् का अपना वह स्वरूप भूत चैतन्य जो सब जगह प्रकाश और विमर्श है, वही इनका ज्ञान और क्रियाशक्ति रूप है। स्वरूप परामर्श को न त्यागते हुए जो भिन्न-भिन्न पदार्थों का विमर्श होता है, वह बिमर्श भी स्वरूप में ही विश्रान्त रहता है और स्वरूप में ही ठहरता है। जिसका आकार अहम् इदम् ऐसा सदाशिव ईश्वर स्वरूप ही है। वही परम शिव की माया शक्ति है।

ये ज्ञान, क्रिया, माया शक्तियां भगवान् में स्वाभाविक हैं। स्वरूप का अपरिज्ञान होने पर जो भिन्न पदार्थों में ज्ञान और क्रिया होते हैं तथा स्वरूप परामर्श के बिना ही जो भिन्न वस्तुओं का ज्ञान होता है, वही पशु का अप्रकाश रूप सुख, दुःख और मोह लक्षण वाले तथा प्रकाश, क्रिया और नियमन स्वभाव वाले सत्त्व रज और तम नाम के तीन गुण होते हैं।

टिप्पणी—

पति अर्थात् परमशिव के अपने स्वरूप में ज्ञान और क्रिया तथा माया नामक तीन शक्तियाँ ही पशु दशा में सत्त्व, रजस्, तमस्, के रूप में प्रकट होती हैं इत्यादि कारिका में यह बतलाया गया है कि स्वातन्त्र्य स्वभाव वाली भगवती शक्ति असंकुचित दशा में ज्ञान क्रिया और माया रूप होती है, पशु दशा में अर्थात् आत्मनिग्रह के फलस्वरूप संकोच की दशा में संकोच के प्रकर्ष से क्रमशः सत्त्व रजस् और तमस् के रूपवाली होकर चित्त के रूप में स्फुरित होती है।

वस्तुतः जब यह चित्ति भगवती अपने स्वरूप को गोपन कर संकोच को ग्रहण करती है, तब उसकी दो गतियां होती हैं। कभी उदित हुए संकोच को गौण करके चित्ति की प्रधानता को लेकर स्फुरित होती है और कभी संकुचित रूप से प्रकट होती है। इस प्रकार चित्ति भगवती संकुचित ग्राहक रूप को ग्रहण कर चैतन्य पद से उतर कर पदार्थों के ग्रहण के लिये पदार्थों के सम्मुख होकर नील, पीत, सुख, दु;ख आदि से सकुचित रूप होकर चित्त कहलाती है अथवा दोनों ग्राहक और गाह्य के संकोच से संकुचितता-परिच्छिन्नता ही चित्त है।

शिव रूप होने के कारण अपने अंग रूप समस्त पदार्थों में ज्ञान क्रिया तथा माया तीनों शक्तियाँ शिव में पाई जाती हैं।

यह भी कहा गया है—कि स्वतन्त्र नाम वाली चिति शक्ति ही ज्ञान क्रिया शक्ति स्वरूप भी है और वही पशु दशा में अत्यधिक संकुचित हो जाने से सत्त्व, रज, तम स्वभाव वाले चित्त रूप से स्थित होती है। जब शिव में अणुत्व का उन्मेष होता है, तब जीव दशा प्राप्त होने पर सत्व गुण रजोगुण और तमोगुण इस जीव मैं पाये जाते हैं। इस सूत्र में यह सिद्ध किया गया है कि चित्ति भगवती जो ज्ञान-क्रिया और माया शक्ति से युक्त है, संकोच की अधिकता होने पर जीव दशा में सत्त्व-रजस् और तामस् रूप में विकसित होती है। यह बात ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में तत्त्व संग्रहाधिकार में कही गई है। विकल्प दशा के प्राप्त होने पर भी, अथवा जब शिव पशु का रूप ग्रहण करते हैं तब भी शिवोचित्त स्वरूप ही प्रमाता का वास्तविक स्वभाव है। इस लिये श्री तत्त्वगर्भ स्तोत्र में भी कहा है विकल्प स्थिति में भी तात्विक रूप की सत्ता रहती है। इसी अभिप्रायः से कहा है कि जो लोग परमार्थ का अनुसरण करने वाले हैं उनका वहाँ पर अर्थात् विषय ग्रहण काल में अर्थात् संसारावस्था में भी स्वरूप प्रकाश का लोप नही होता है। अतः जो परमार्थ के अभिलाषी है, अथवा जिन्होंने उस परमार्थ तत्व को प्राप्त कर लिया है, उनका उस विकल्प दशा में भी आत्म स्वरूप का प्रकाश लुप्त नहीं होता है।

चित्तमेव तु मायाप्रमातुः स्वरूपम्—इत्याह

तन्मयो माया प्रमाता ॥६॥

देहप्राणपदं तावत् चित्तप्रधानमेव; शून्यभूमिरपि चित्तसंस्कारवत्येव; अन्यथा ततो व्युत्थितस्य स्वकर्तव्यानुधावनाभावः स्यात्;—इति चित्तमय एव मायीयः प्रमाता ॥ अमुनैव आशयेन शिवसूत्रेषु वस्तुवृत्तानुसरेण

चैतन्यमात्मा (१-१)

इत्यभिधाय मायाप्रमातृलक्षणावसरे पुनः

चित्तमात्मा (३-१) इत्युक्तम् ॥६॥

चित्त ही माया प्रमाता का रूप है। इस बात को कहने के लिए छटे सूत्र का निर्देश है।

चित्त प्रधान वाला जीव माया प्रमाता कहलाता है। देह प्रमाता एवं प्राण प्रमाता में तो चित्त की प्रधानता रहती ही है। शून्य भूमि अर्थात् शून्य प्रमाता भी चित्त के संस्कार से युक्त ही रहता है। यदि शून्य प्रमाता में चित्त का संस्कार न रहता, तो शून्य भूमि से उठने वाले अर्थात् सोकर उठने वाले अपने कर्तव्य का अनुसन्धान न करने से—अपने कर्तव्य को नहीं कर सकते। चित्त प्रधान वाला ही मायीय प्रमाता होता है। इसी अभिप्राय से शिव सूत्र के पहले सूत्र में वास्तविक रूप आत्मा को चैतन्य कहा गया है। इसके पश्चात् माया प्रमाता का लक्षण बताते समय में "चित्त ही आत्मा है" यह कहा गया है ॥ अर्थात् देह और प्राण से आवृत होने पर चित्त का संस्कार सम्पूर्ण रूप से विलुप्त नहीं होता ॥ शून्य भूमि से जागृत हुए प्रमाता अपने-अपने करने योग्य कर्मों की ओर दौड़ते है इसीलिये चित्त ही जीव का स्वरूप है। इस आशय से शिव सूत्र में परमार्थिक वस्तु अथवा सत्य का निरूपण करते हुए कहा गया है "आत्मा चैतन्य है" अथवा "चेतनता ही आत्मा है"। माया प्रमाता अर्थात् चित्त के लक्षण को कहते समय पुनः कहा है "चित्त ही आत्मा है"।

अस्यैव सम्यक् स्वरूपज्ञानात् यतो मुक्तिः, असम्यक् तु संसारः, ततः तिलश एतत्स्वरूपं निर्भङ्क्तुमाह

स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपञ्चक स्वभावः ॥७॥

निर्णीतदृशा चिदात्मा शिवभट्टारक एव "एक" आत्मा, न तु अन्यः कश्चित्; प्रकाशस्य देशकालादिभिः भेदायोगात्; जडस्य तु ग्राहकत्वानुपपत्तेः। प्रकाश एव यतः स्वातन्त्र्यात् गृहीतप्राणादि संकोचः संकुचितार्थग्राहकतामश्नुतेः, ततः असौ प्रकाशरूपत्वसंकोचावभासवत्त्वाभ्यां "द्विरूपः"। आणव-मायीय-कार्ममलावृतत्वात् "त्रिमयः"। शून्य-प्राण-पुर्यष्टक शरीर स्वभावत्वात् 'चतुरात्मा'। 'सप्तपञ्चकानि' —शिवादिपृथिव्यन्तानि पञ्चत्रिंशत्तत्त्वानि 'तत्स्वभावः। तथा शिवादि—सकलान्त प्रमातृसप्तकस्वरूपः; चिदा-नन्देच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तिरूपत्वेऽपि अख्यातिवशात् कला-विद्या-राग-काल-नियति कञ्चुकवलितत्वात पञ्चकस्वरूपः। एवं च शिवैकरूपत्वेन, पञ्चत्रिंशत्तत्त्वमयत्वेन, प्रमातृसप्तकस्वभावत्वेन चिदादिशक्तिपञ्चकात्मकत्वेन च अयं प्रत्यभिज्ञायमानो मुक्तिदः; अन्यथा तु संसार हेतुः ॥७॥

जिस हेतु से इस प्रकाश रूप चेतन का सही ज्ञान होने से मुक्ति होती है और ठीक-ठीक ज्ञान न होने से संसारी बन्धन होता है उसके स्वरूप को भिन्न-भिन्न करके कहते हैं—

सत्य-यथार्थ ज्ञान से जिस प्रकार मुक्ति सम्भव है उसी प्रकार असत्यमिथ्या ज्ञान से संसार सम्भव है। उसका स्वरूप विश्लेषण से निरूपण करने के लिये सूत्र कहा है—

सूत्र—७ वह शिव एक है दो रूप है तीनमय है और चार रूप वाला है सप्तपंचक रूप वाला है और पैंतीस स्वभाव वाला है।

टिप्पणी—

इससे सिद्ध होता है कि पूर्ण प्रकाशरूप परमात्मा सर्वदा निज स्वरूप में रह कर अपने स्वातन्त्य के बल द्वारा अनन्त रूपों में स्फुरित होता है॥

पूर्व निर्णय के अनुसार भगवान शिव चिदात्मा ही एक आत्मा है अन्य कोई नहीं है। प्रकाश रूप आत्मा का देशकाल आदि द्वारा भेद हो ही नहीं सकता है। जड़ तो ग्राहक हो ही नहीं सकता है। चित्त् प्रकाश अपनी स्वतन्त्रता से प्राणादि रूप बन कर संकुचित वस्तु की ग्राहकता को प्राप्त करता है। इसलिये यह चिदात्मा प्रकाश रूपता को और संकोचावभासन को ग्रहण करने से दो रूप वाला होता है। एवं आणव, मायीय और कार्म मल इन तीन मलों से आवृत होने के कारण तीनमय है॥ तथा शून्य, प्राण, बुद्धि आदि के समूह रूप पर्युष्टक तथा शरीर स्वभाव वाले होने से चार रूप है। उसके साथ ही सप्तपंचक अर्थात् पैंतीस होने से शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त पैंतीस रूपमय है। छत्तीसवां तो स्वयं शिव ही है।

एवं (१) शिव (२) मन्त्र महेश्वर (३) मन्त्रेश्वर (४) मन्त्र (५) विज्ञानाकल (६) प्रलयाकल तथा (७) सकल नाम वाले सात प्रमाता रूप वाला है, तथा

चित आनन्द इच्छा ज्ञान क्रिया के रहने पर भी अख्याति के बल से कला, विद्या, राग, काल, नियति रूप कुचुंक से आवृत होने के कारण पाँच रूप वाला है। इस प्रकार से एक रूप अर्थात् शिव रूप से ३५ तत्त्व रूप से प्रमाता सप्त स्वभाव वाले रूप से और चिदादि पाँच शक्तिमय रूप से प्रत्यभिज्ञात चिदरूप आत्मा मुक्ति को देता है अर्थात् इन रूपों से अज्ञात आत्मा संसार का हेतु हो जाता है अर्थात् बन्धन मय हो जाता है।

टिप्पणी—

पूर्व निर्णय के अनुसार चैतन्य रूप शिव भट्टारक ही एक आत्मा है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं। देशकालादि के द्वारा प्रकाश का भेद नहीं हो सकता। प्रमेय वर्ग जड़ होने के कारण ग्राहक बनने के योग्य नहीं है। जड़ वस्तु प्रमाता को जानने में समर्थ नहीं हो सकती। प्रकाश अपने स्वातन्त्र के बल से संकुचित होकर प्राण आदि को ग्रहण करता है। ग्रहण करने पर भी उसमें कुछ न्यूनता नहीं आती। वह ज्यों का त्यों ही बना रहता है। संकोच युक्त प्रमातृता को ग्रहण कर पूर्ण प्रकाश रूप वाला शिव भट्टारक दो रूपों में स्फुरित होता है।

आणव-मायीय—और कार्ममल से आवृत हुआ यह शिव तीन रूपों में परिणत होता है।

शून्य-प्राण—पुर्यष्टक तथा स्थूल शरीर को अंगीकार कर यह चार स्वरूप धारण करता है।

सप्त पञ्चक अथवा पैंतीस तत्त्व—पृथ्वी तत्त्व से लेकर शिव तत्त्व पर्यन्त-उसका स्वभाव है। इसके अतिरिक्त शिव से लेकर सकल तक प्रमाता सात स्वरूपों से युक्त होता है॥

चित्-आनन्द-इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तियों से युक्त वह शिव अज्ञान को ग्रहण करने से कला-विद्या-राग-काल और नियति रूप कवचों से आवृत होने के कारण इसे पञ्चकञ्चुक में सीमित होना पड़ता है अर्थात् इस प्रकार जब यह ज्ञान हो जाता है कि शिव एक रूप होते हुए भी पैंतीस रूपों में प्रकट होता है, तभी वह मुक्ति को देने वाला होता है। ऐसा न जानने पर यह संसार का कारण बनता है॥ अतः यह शिव ही पैंतीस तत्त्वों के रूप में प्रकट हुआ है। ऐसा ज्ञान होना ही मुक्ति का हेतु है। इन सब तत्त्वों को शिव से भिन्न जानना ही संसार में बन्धन का कारण है।

एवं च

तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः ॥८॥

सर्वेषां चार्वकादिदर्शनानां "स्थितयः" – सिद्धान्ताः 'तस्य' एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीताः कृत्रिमा 'भूमिकाः' ॥ तथा च चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा—इति चर्वाकाः

नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते, अपवर्गे तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम् ॥

अहं प्रतीति प्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृतः आत्मा-इति मन्वाना मीमांसका अपि बुद्धावेव निविष्टाः ॥

ज्ञानसंतान एव तत्त्वम्-इति सौगता बुद्धिवृत्तिषु एव पर्यवसिताः ॥ प्राण एव आत्मा — इति केचित् श्रुत्यन्तविदः ।

असदेव इदमासीत्-इत्यभावब्रह्मवादिनः शून्यभुवमवगाह्य स्थिताः। माध्यमिका अपि एवमेव ।

परा प्रकृतिः भगवान् वासुदेवः; तद्विस्फुलिङ्गप्राया एव जीवाः-इति पाञ्चरात्राः परस्याप्रकृतेः परिणामाभ्युपगमात् अव्यक्ते एव अभिनिविष्टाः ।

सांख्यादयस्तु विज्ञानाकलप्रायां भूमिम् अवलम्बन्ते ।

सदेव इदमग्र आसीत्-इति ईश्वरतत्त्वपदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः ॥ शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपम् आत्मतत्त्वम् इति-वैयाकरणाः श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः । एवमन्यदपि अनुमन्तव्यम् । एतच्च आगमेषु

बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः ।
स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः ॥"

इत्यादिना निरूपितम् ।

विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वम्— इति तान्त्रिकाः ।

विश्वमयम् इति—कुलाद्याम्नायनिविष्टाः ।

विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च—इति त्रिकादिदर्शनविदः ॥

एवम् एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः सर्वाइमा भूमिकाः स्वातन्त्र्य प्रच्छादनोन्मीलनतारतम्य भेदिताः । अत एक एव एतावद्व्याप्तिक आत्मा ।

मितदृष्टयस्तु अंशांशिकासु तदिच्छयैव अभिमानं ग्राहिताः। येन देहादिषु भूमिषु पूर्व-पूर्वप्रमातृव्याप्तिसारताप्रथायामपि उक्तरूपां महाव्याप्तिं परशक्तिपातं विना न लभन्ते। यथोक्तम्—

'वैष्णवाद्यास्तु ये केचिद्विद्यारागेण रञ्जिताः।
न विदन्ति परं देवं सर्वज्ञं ज्ञानशालिनम्॥ इति। तथा—
'भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया'। इति
'न आत्मोपासका शैवं न गच्छन्ति परं पदम्॥ इति च

अपि च सर्वेषां दर्शनानां—समस्तानां नीलसुखादिज्ञानानां याः 'स्थितयः'—अन्तर्मुखरूपा विश्रान्तयः ताः तद्भूमिकाः—चिदानन्दघनस्वात्मस्वरूपा—भिव्यक्त्युपायाः। तथा हि यदा यदा बहिर्मुखं रूपं स्वरूपे विश्राम्यति तदा तदा बाह्यवस्तूपसंहारः; अन्तः प्रशान्तपदावस्थितिः; तत्तदुदेष्यत्सं—वित्संतत्यासूत्रणाम्; इति सृष्टि-स्थिति-संहार मेलनरूपा इयं तुरीया सांविद्भट्टारिका तत्तत्सृष्टयादि भेदान् उद्वमन्तीसंहरन्ती च, सदा पूर्णा च, कृशा च, उभयरूपा च अनुभयात्मा च, अक्रममेव स्फुरन्ती स्थिता। उक्तं च श्री प्रत्यभिज्ञा टीकायाम् 'तावदर्थावलेहेन उत्तष्ठिति, पूर्णा च भवति'—इति। एषा च भट्टारिका क्रमात्क्रमम् अधिकमनुशीलयमाना स्वात्मसात्करोत्येव भक्तजनम्॥८॥

अतः—

चार्वाकादि सब दार्शनिकों की स्थितियां अर्थात् सिद्धान्त इस आत्मा की ही अपनी इच्छा से ग्रहण की हुई कृत्रिम भूमिकाएँ हैं।

शब्दार्थः—

जैसे नटराज चोर आदि की भूमिकाँए अपनी इच्छा से ही ग्रहण करता है। चार्वाक अर्थात् नास्तिक जो परलोक, पुनर्जन्म आदि को नहीं मानते हैं, वे चैतन्य वाले शरीर को ही आत्मा कहते हैं। नैयायिक और वैशेषिक ज्ञान, इच्छा, आदि गुण के आधार बुद्धित्व के जैसे पदार्थ को संसार दशा में आत्मा मानते हैं। मोक्ष होने पर उन गुणों के दूर हो जाने पर शून्य रूप को ही वे आत्मा मानते हैं। अहम् ज्ञान का विषय सुख दुःख आदि उपाधियों से ढका हुआ आत्मा होता है—ऐसा मानने वाले मीमांसक लोग भी बुद्धि में ही आत्मा का आग्रह रखते हैं।

ज्ञान संतान ही तत्त्व है इस तरह कहते हुए सौगत (बौद्ध भी बुद्धि में ही ठहरे हैं।) प्राण ही आत्मा है, ऐसा कई उपनिषद् जानने वाले कहते हैं। 'असदेव इदमासीत—सब कुछ पहले असत ही था इस वेदोक्ति के अनुसार अभाव को ही ब्रह्म कहते हुए कुछ वेदान्ती शून्य दशा का ही अनुभव करके उसी में ठहरे रहते हैं। माध्यमिक बौद्ध भी इसी तरह कहते हैं कि शून्य ही ब्रह्म है। पांचरात्र शास्त्र वाले

वैष्णव लोग मानते हैं कि पराप्रकृति ही भगवान वासुदेव हैं। उन्हीं के विस्फुलिङ्ग जैसे जीव हैं। इससे पराप्रकृति का परिणाम स्वीकार करने से अव्यक्त को ही आत्मा मानते हैं।

सांख्य और योग वाले तो विज्ञानाकल जैसी भूमिका का आसरा लेते हैं।

सदैव इदमग्रासीत—यह सब पहले सत् ही था—इस उपनिषद् के मत से कुछ वेदान्ती ईश्वर तत्त्व को ही आत्मस्वरूप मानकर बैठे हैं। वैयाकरण लोग आत्म तत्त्व को शब्द ब्रह्ममय पश्यन्ती रूप मानते हैं। वे लोग सदाशिव को ही आत्मा माने हुए हैं। इसी प्रकार दूसरे मतवादियों को भी समझना चाहिये। इसी बात को अगम में भी कहा है कि बुद्धि तत्त्व में बौद्ध लोग ठहरे हैं और अर्हत जो जैन हैं वे गुण तत्त्व में स्थित हैं। वेदविद् लोग पुरुषतत्व में स्थित हैं और पाँचरात्र वाले वैष्णव लोग अव्यक्त में स्थित हैं—इत्यादि वचनों द्वारा कहा गया है। तांत्रिक लोग, विश्व से उत्तीर्ण होकर आत्मतत्व है ऐसा मानते हैं। विश्वमय ही आत्म तत्त्व है ऐसा कौल लोग मानते हैं। त्रिक्दर्शनविद् कहते हैं कि आत्मा विश्वमय एवं विश्वोत्तीर्ण है।

इस प्रकार से एक ही चिदात्मा भगवान् के अपने स्वातन्त्र्य से प्रकाशित पूर्वोक्त सब भूमिकाएं हैं, जो कि स्वातन्त्र्य के ढकने और फिर से उसके प्रकट करने के तारतम्य भाव के रूप में विद्यमान हैं; अर्थात् इनमें स्वातन्त्र्य का तिरोधान और प्रकाशन कम ज्यादा है। अतः एक ही आत्मा पूर्वोक्त सब स्थितियों का व्यापक है। उस चिदात्मा की इच्छा से ही परिमित प्राणियों का आत्मभिमान अंश अंश में ही ठहराया गया है। वे लोग परिमित दृष्टि वाले हैं। वे लोग क्रमिक देह आदि में आत्मतत्व देखते हुए भी महाव्याप्ति को अर्थात् सर्वव्याप्त आत्मतत्व को परशक्तिपात के अभाव में समझ नहीं पाते हैं। स्वच्छन्द तन्त्र में भी कहा गया है, विद्या के राग से रंजित जो अन्य लोग हैं, वे लोग सर्वज्ञ ज्ञानशाली परमदेव को नहीं जानते हैं। और भी कहा है कि उन लोगों को अमोक्ष में ही मोक्ष की लालसा से माया घुमाती रहती है। और कहा है कि आत्मा के उपासक वे लोग शैव परम पद को प्राप्त नहीं करते है। इति।

इस सूत्र का यह अर्थ भी होता है कि सब दर्शनों की अर्थात् समस्त नील पीत सुख आदि ज्ञानों की जो स्थितियाँ अर्थात् अन्तर्मुख रूप विश्रान्तियाँ हैं वह सब की सब तत्तद् भूमिका अर्थात् चिदानन्दघन अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के उपाय हैं। क्योंकि जब-जब बहिर्मुख रूप फिर से स्वरूप में विश्रान्ति लेता है तब-तब बाहर की वस्तुओं का उपसंहार अर्थात् अपने भीतर लय ही हो जाता है और अन्तः प्रशान्त पद में स्थिति हो जाती है। फिर पुनः-पुनः उदित होने वाले ज्ञानों की संतति के

क्रम का प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार सृष्टि स्थिति संहार की मिश्रितरूपा जो यह तुरीया संवित् देवी है वही उन-उन सृष्टि आदि भेदों को उगलती हुई—एवं आत्मसात करती हुई—सदा ही पूर्णरूपा भी बनी रहती है और सदा ही कृशा अर्थात् दुबली भी बनी रहती है। दोनों रूपों से भी रहती है और दोनों रूपों के बिना भी रहती है। क्रम के बिना ही अक्रम से ही सृष्टि संहार आदि रूप से चमकती रहती है। इसीलिए प्रत्यभिज्ञा टीका में कहा है—अर्थों को—पदार्थों को ग्रहण करने की लीला से संविद उठ-खड़ी होती है और पूर्ण हो जाती है। यह संविद् भगवती क्रम-क्रम से अधिक जब अनुशीलन की जाती है तो भक्त लोगों को अपने स्वरूप के साथ एक बना लेती है अर्थात् संविद के उपासक लोग संविद्रूप आत्म तत्व को पा लेते हैं।

टिप्पणी—चार्वाकादि वादियों से स्वीकृति निर्णय के अनुसार इसकी कृत्रिम भूमिकाएँ अपनी स्वतन्त्रता से ग्रहण की हुई नाटक के पात्रों की भूमिकाओं की न्याई है; अर्थात् जितने चार्वाकादि दार्शनिक हैं तथा उनके जितने सिद्धान्त हैं. उन्हें आत्मा ने अपनी ही इच्छा द्वारा लीला के रूप में स्वीकार किया है; जैसे कि नट अपनी ही इच्छा से नाटक रच कर भिन्न-भिन्न पात्रों का नाटय स्वीकार करता है। इस प्रकार चार्वाक मानते हैं कि शरीर आत्मा से अभिन्न है अर्थात् जीवित शरीर अथवा चैतन्यता से युक्त शरीर ही आत्मा है।

नैयायिक तो ज्ञान आदि गुणों (अर्थात ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा द्वेष, धर्म, अधर्म संस्कार के आश्रय को ही आत्मा समझते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा संसारिक दशा में ज्ञान आदि गुणों के आश्रयभूत बुद्धि जैसा ही है और मुक्त होने पर जब बुद्धि लुप्त हो जाती है, वह शून्य जैसा हो जाता हूँ।

सुख दुःख आदि उपाधियों से परिच्छिन्न अहम् भाव का ज्ञान ही आत्मा है ऐसा मानने वाले मीमांसक भी बुद्धि तक ही सीमित हैं अर्थात् मीमाँसक भी बुद्धि तत्व तक ही पहुँचे हैं। अतः सुख दुःख मोह आदि की प्रतीति ही अहम्-भाव का स्वरूप है ऐसा मानते हैं।

बौद्धमत के अनुयायी भी बुद्धि तत्व तक ही सीमित हैं और ऐसा मानते हैं कि प्रवाह रूप ज्ञान ही केवल आत्मा का स्वरूप है।

कुछ वेदान्ती ऐसा मानते हैं कि प्राण ही आत्मा है। ब्रह्मवादियों का विश्वास है कि पूर्व में कुछ भी नहीं था। वे शून्य से ही जगत की उत्पत्ति का मूल सिद्धान्त मानते हैं। माध्यमिक बौद्ध भी ऐसा ही मानते हैं।

पाँचरात्र (वैष्णव) ऐसा मानते हैं कि भगवान् वासुदेव ही परा प्रकृति हैं, और जीव उसकी चिनगारियों जैसे हैं। इस प्रकार भगवान् वासुदेव को ही इन सब का

उद्गम स्थान मानते हैं। सांख्य आदि विज्ञानाकल भूमि को ही आत्मा मानते हैं।। अन्य वेदान्ती मानते हैं कि सत् ही केवल आरम्भ में था। अतः वे ईश्वरतत्व पर ही स्थित हैं सदाशिव पद तक आरूढ़ वैयाकरणों के अनुसार शब्दब्रह्म ही आत्मा है। वे पश्यन्ती (पर शब्द) रूप को ही आत्म-तत्व का स्वरूप मानते हैं। इस प्रकार दूसरे मतवाले भी विश्वास करते हैं। इस बात को आगम में इस प्रकार कहा है।

बौद्ध बुद्धि तत्व को जैनी त्रिगुणात्मक तत्त्व को (क्षुब्ध प्रकृति को) वेदान्ती पुरुष तत्व को और वैष्णव अव्यक्त को ही अपना सिद्धान्त मानते हैं। तान्त्रिकों के मतानुसार आत्मा का स्वरूप विश्व से उत्तीर्ण है। कुलादि दार्शनिकों के अनुसार आत्मा का स्वरूप विश्वमय है। त्रिक् आदि दार्शनिकों के अनुसार आत्मा का स्वरूप विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण दोनों ही है।

इस प्रकार एक चिदात्मा रूप भगवान् इन सब नाना प्रकार की लीलाओं को अपनी स्वतन्त्र शक्ति द्वारा ही प्रकट करते हैं और इनकी क्रीडाओं में भेद का कारण उनकी अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति द्वारा ही अवभासित होता है। कभी वह भगवान अपने स्वरूप वो प्रच्छादन करता है और कभी प्रकट करता है इस प्रकार एक ही आत्मा सब में व्याप्त है।

इन सम्पूर्ण लीलाभिनयों के करते हुए भी वह ज्यों का त्यों लीलातीत है परिमित दृष्टिकोण वाले उस भगवान की इच्छा द्वारा उस पूर्ण तत्त्व के अंशों पर ही अपने अभिमान को ठहराया करते हैं। देहादि सीमित दशा में ही जिन्हें प्रमातृता प्राप्त है उनके लिये—परदशा में महाव्याप्ति का अनुभव, पर शक्तिपात के बिना नहीं हो सकता जैसा कि कहा है—

अन्य देवताओं के भक्त जो कि अविद्या और राग में रंगे हुए हैं, वह सर्वत्र ज्ञान से सुशोभित परम देव को प्राप्त नहीं करते। इसी प्रकार जो अमोक्ष में ही मोक्ष की अभिलाषा करते हैं माया उन्हें संसार में भटकाती है।

उसी प्रकार परिमित आत्मा की उपासना करने वाले शैवों के परमपद को प्राप्त नहीं होते हैं।

अब इस सूत्र की दूसरे ढंग से व्याख्या करते हैं—

दर्शन केवल ज्ञान ही है, तत्त्व ज्ञान नहीं। स्थिति केवल विश्रान्ति स्थल नहीं, अपितु अन्तर्मुख स्वरूप में पूर्ण विश्रान्ति है। यह समस्त नील पीत आदि बाह्य पदार्थ और सुख दुःख आदि अन्तरिक-आभ्यान्तर—पदार्थ वर्ग ही उस चिदानन्दघन स्वरूप के प्रकट होने के कारण बने हुए हैं अर्थात् इनके द्वारा ही स्वरूप में पूर्ण विश्रान्ति की स्थिति प्राप्त होती है। बाह्य विषय वर्ग जब लय होने के सम्मुख

होते हैं—तब प्रमाता अन्तर्मुख स्थिति को प्राप्त होते हैं। अर्थात् परमचिदानन्द भूमि में प्रविष्ट होते हैं और बाह्य के समस्त वस्तु वर्ग का उपसंहार हो जाता है। अन्त में शान्त पदवी में स्थिति लाभ होता है। यही परम तुरीया स्थिति कहलाती है। इसी प्रकार बारम्बार अन्तर से बाह्य और बाह्य से अभ्यन्तर-अन्तर-क्रम द्वारा चित् शक्ति ही इस क्रम को मुद्रित करती है। इसी को इसका सृष्टि स्थिति और संहार क्रम कहते हैं।

इस प्रकार सृष्टि-स्थिति और संहार रूपा यह तुरीया संवित् भगवती उन सृष्टि तथा संहार इत्यादि भेदों को मुद्रित करती हुई निरन्तर पूर्ण भी, कृश भी और दोनों पूर्ण तथा कृश भी और न पूर्ण और न कृश भी आक्रम से ही विकसित हुई स्थित है, ऐसा प्रत्यभिज्ञा की टीका में कहा गया है।

भगवती द्वारा यह बाह्य और अभ्यन्तर क्रम अधिक से अधिक अभ्यास में लाए जाने पर ही यह भक्त जनों को स्वात्मा में लय करती है ॥८॥

यदि एवंभूतस्य आत्मनो विभूतिः, तत् कथम् अयं मलावृतः अणु कलादिवलितः संसारी अभिधीयते ?—इत्याह—

चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी ॥९॥

यदा 'चिदात्मा' परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्जय भेदव्याप्तिम् अवलम्बते, तदा तदीया इच्छादिशक्तयः असंकुचिता अपि 'संकोचवत्यो' भान्ति; तदानीमेव च अयं 'मलावृतः संसारी' भवति। तथा च अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णमन्यतारूपम् आणवं मलम्; ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरण—बुद्धीन्द्रियता-पत्तिपूर्वम् अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्; क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रिय रूप-संकोच ग्रहणपूर्वम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम्। तथा सर्वकर्तृत्व—सर्वज्ञत्व—पूर्णत्व—नित्यत्व—व्यापकत्वशक्तयः संकोच गृह्णाना यथाक्रमं कला—विद्या—राग—काल नियतिरूपतयाभान्ति। तथा विधश्च अयं शक्तिदरिद्र : संसारी उच्यते; स्वशक्ति विकासे तु शिव एव ॥९॥

यदि ऐसी पराप्रकृति रूपा बनी हुई आत्मा की यह विभूति है, तो किस प्रकार से और क्यों यह आत्मा माया से ढका हुआ क्षुद्र जीव बना हुआ, कला इत्यादि से आवृत्त संसारी कहा जाता है।

टिप्पणी—

अथवा जबकि पूर्वोक्त प्रकार से कही गई अद्भुत विभूति आत्मा में है, तब कैसे यह मल से आवृत हो जाता है, अर्थात् ढक जाता है, और अणु बन जाता है और कला आदि कंचुकों से वेष्टित होकर अर्थात् घिर जाने से संसारी कहा जाता है; इस शंका-प्रश्न-के उत्तर में सूत्र कहता है—

सूत्र ९—शब्दार्थ—

जिस प्रकार से चिदात्मा संकुचित होकर चित्त बन जाता है, उसी प्रकार उसकी शक्ति के संकुचित हो जाने से वह मलावृत हो जाता है और संसारी हो जाता है।

इसी बात को टीका में स्पष्ट करके कहते हैं—

जब चिदात्मा परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य इच्छा से ही अपनी अभेद व्याप्ति को छिपा कर अर्थात् उसका तिरोधान करके भेद व्याप्ति को ग्रहण करता है, तब उसकी इच्छा आदि शक्तियाँ भी असंकुचित भाव से संकुचित होकर प्रकाशित होती हैं। तभी यह चिदात्मा मल से आवृत होकर संसारी बन जाता है क्योंकि अप्रतिहत स्वातन्त्र्य स्वरूपा इच्छा शक्ति के संकुचित हो जाने से अपूर्णमन्यता रूप आणव मल बन जाता है। ज्ञान शक्ति भी क्रम से संकुचित हो जाती है तो भेद में ही सर्वज्ञता के किंचितज्ञत्व रूप में परिणित हो जाने से अन्तःकरण और ज्ञानेन्द्रिय रूप बन कर अत्यन्त संकोच शील होकर भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान रूप मायीय मल बन जाती है। क्रिया शक्ति भी भेदभाव में सर्वकर्तृता का त्याग कर किंचित् कर्तृता को अर्थात कुछ थोड़ा ही कर सकने के रूप को धारण करती हुई कर्मेन्द्रियों के रूप में संकुचित होकर अतीव परिमित बनी हुई पुण्यपाप रूप कार्ममल बन जाती है। सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व जो शक्तियाँ हैं वे सब भी संकोच ग्रहण कर लेती है और क्रम से कला विद्या राग काल और नियति' रूप में अवभासित होती हैं। तब यह चिदात्मा शक्ति दरिद्र हो जाती है अथवा संसारी कहलाने लगती है। पुनः अपनी शक्ति के बिकसित हो जाने पर तो वह शिव ही है या हो जाता है।

अर्थात यदि ऐसी पराप्रकृति रूप बनी हुई आत्मा की यह विभूति है तो किस प्रकार और क्यों यह शिव माया से ढका हुआ, जीव बना हुआ कला इत्यादि से आवृत संसारी कहा जाता है।

टिप्पणी—इस प्रश्न के उत्तर में यह सूत्र कहता है—भगवान अपनी शक्ति के द्वारा संकोच को ग्रहण कर मल से ढका हुआ संसारी कहा जाता है। इस बात को टीका में स्पष्ट करके प्रतिपादित करते हुए कहते हैं—

जब चिदात्मा परमेश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अभेद दशा को छिपा कर भेद दशा को ग्रहण करता है, तब उसी शिव की इच्छा आदि शक्तियाँ जो असंकुचित हैं वह परिपूर्ण होती हुई भी संकोच को ग्रहण करती हैं; उस समय ही वह शिव मल से ढका हुआ संसारी कहा जाता है। इस बात को ऐसे कहते हैं कि परिपूर्ण स्वातन्त्र्यरूपा इच्छा शक्ति के संकुचित होने पर अर्थात उसे अपूर्णता का भान जब होता है तब वह आणव मल का बोध कराती है। सर्वज्ञ होने पर भी भेद दशा को प्राप्त होने पर धीरे-धीरे कुछ सीमित वस्तुओं को ही जानने वाली रह जाती है। अन्तःकरण, बुद्धि, मन और अहंकार और पाँच इन्द्रियाँ कान त्वचा नेत्र जिह्वा और नासिका के रूप को प्राप्त करके अत्यन्त संकोच को ग्रहण करने से भिन्न-भिन्न जानने योग्य पदार्थों के ज्ञान के कारण मायीय मल को प्राप्त होती है। क्रिया शक्ति क्रम

से भेद दशा में सर्वकर्तृता-शक्ति होती हुई भी क्षीण हो जाती है और धीरे-धीरे परिमित सामर्थ्य वाले कर्मेन्द्रियों के रूप में प्रकट होकर संकोच को ग्रहण करती है। इस प्रकार अत्यन्त परिमित दशा को प्राप्त होकर शुभ और अशुभ कर्मों द्वारा कार्म-मल के रूप को प्राप्त करती है। वैसे ही परिमित दशा को प्राप्त होने पर यह शक्तियाँ—सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, पूर्णता, नित्यता और व्यापकता के स्थान पर संकोच को ग्रहण करके क्रम से कला-विद्या-राग-काल-नियति रूप में प्रकट हुई दिखाई देती हैं। इसी प्रकार यह शिव शक्तियों के संकुचित होने पर संसारी-लौकिक कहा जाता है और अपनी शक्तियों के विकसित होने पर पुनः शिव बन जाता है ॥९॥

ननु संसारावस्थायाम् अस्य किंचित् शिवतोचितम् अभिज्ञानमस्ति येन शिव एव तथावस्थितः ? —इत्युद्घोष्यते । अस्ति ।—इत्याह—

तथापि तद्वत् पञ्च कृत्यानि करोति ॥१०॥

इह ईश्वराद्वयदर्शनस्य ब्रह्मवादिभ्यः अयमेव विशेषः, यत्
सृष्टि संहार कर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्ति विनाशनम् ॥

इति श्रीमत्स्वच्छन्दादि शासनोक्तनीत्या सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं चिदात्मनो भगवतः । यथा च भगवान् शुद्धेतराध्वस्फारणक्रमेण स्वरूप—विकासरूपाणि सृष्ट्यादीनि करोति, 'तथा' संकुचितचिच्छक्तितया संसार भूमिकायामपि 'पञ्चकृत्यानि' विधत्ते । तथा हि

तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः ॥

इति प्रत्यभिज्ञाकारिकोक्तार्थदृष्टया देहप्राणादिपदम् आविशन् चिद्रूपो महेश्वरो बहिर्मुखीभावावसरे नीलादिकमर्थं नियतदेशकालादितया यदा आभासयति, तदा नियत देश कालाद्याभसांशे अस्य स्रष्टृता; अन्य—देशकालाद्याभासांशे अस्य संहर्तृता; नीलाद्याभासांशेस्थापकता; भेदेन आभासांशे विलयकारिता; प्रकाशैक्येन प्रकाशने अनुगृहीतृता । यथा च सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं भगवतः, तथा मया वितत्य स्पन्दसन्दोहे निर्णीतम् ॥

एवमिदं पञ्चविध कृत्यकारित्वम् आत्मीयं सदा दृढ़प्रतिपत्त्या परिशील्यमानं माहेश्वर्यम् उन्मीलयत्येव भक्तिभाजाम् । अतएव ये सदा एतत् परिशीलयन्ति, तेस्वरूपविकासमयं बिश्वं जानाना जीवन्मुक्ता—इत्याम्नाताः । ये तु न तथा, ते सर्वतो विभिन्नं मेयजातं पश्यन्तो बद्धात्मानः ॥१०॥

अब शंका होती है कि जब जीव को शिव कहते हैं तो संसारी अवस्था में शिवता का परिचायक क्या है जिससे इस बात का ज्ञान रहे कि शिव ही संसारी बना हुआ है । दूसरे शब्दों में शंका होती है कि संसारी अवस्था में भी इस शिव में क्या कुछ शिवत्व के लक्षण पाये जाते हैं, जिनसे अनुमान किया जा सके कि शिव ही पशु दशा में स्थित है, तो उत्तर है हां । यही सूत्र द्वारा कहा गया है—

सूत्र १०—तथापि संसारी होने पर भी शिव के समान ही जीव भी पंचकृत्य करता है।

दूसरे शब्दों में—अर्थात् जीव दशा में भी वह शिव की न्याई पांच कृत्य करता है। इसी को दिखाने के लिये टीकाकार कहते है कि—इस ईश्वराद्वय दर्शन की ब्रह्मवादियों से यही विशेषता है कि पंच विध कृत्यों का कर्तृत्व सदैव रहता है, जैसा स्वच्छन्द शास्त्र में कहा है कि सृष्टि-संहार को करने वाले एवं विलय के करने वाले तथा अनुग्रह करने वाले शरण में आने वालों के दुःख का नाश करने वाले देव को नमस्कार करता हूं। इससे स्पष्ट ही चिदात्मा भगवान् सदा पंचविध कृत्य के विधायक कहे गए हैं। जीवावस्था में कैसे पंचविध कृत्य का विधान करते हैं। इस बात को स्पष्ट रूप से दिखाते हैं। जैसे भगवान् शिव शुद्धाध्वा एवं अशुद्धाध्वा के विस्तार से स्वरूप विकास आदि रूप सृष्टि आदि को करते हैं, वैसे ही चित् शक्ति के संकुचित होने पर, संसारावस्था में भी पंचकृत्य करते हैं। क्योंकि प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की कारिका में कहा है—व्यवहारावस्था में भी प्रभुशिव देहादि में प्रवेश करता हुआ अर्थात् शरीर युक्त होता हुआ भी अपने भीतर प्रकाशमान वस्तुओं को अपनी इच्छा से बाहर भी प्रकाशित करता है। टीकाकार इसका अर्थ ऐसा कहते हैं कि देह प्राण आदि स्थिति को स्वीकार करता हुआ भी चिद्रूप महेश्वर बहिर्मुख होने पर नील पीत आदि जो अर्थ हैं—वस्तुएं हैं—उनको नियत देश काल आदि रूप से जब प्रकाशित करता है, तब नियत देश काल के आभासन के अंश का यह स्रष्टा बनता है और अन्य देश काल के आभास का अपोहन करता है। इसलिये उस अंश में संहर्ता बनता है। एवं नीलादि वस्तु के आभास से अंश का स्थापक बनता है। अपने से भिन्न का आभासन करता है, इसलिये विलयकारी बनता है। अर्थात् अपने आपको ढकता है। फिर शक्तिपात द्वारा अपने स्वरूप प्रकाश से अभिन्नरूपेण वस्तु को यदि प्रकाशित करता है, तो अनुग्रहकारी बनता है। इस प्रकार पंचविध कृत्यकारी है। भगवान् कैसे सदा पंचविध कृत्यकारी होता है, इस बात को मैंने स्पन्द संदोह में स्पष्ट किया है। इस प्रकार से अपनी पंचविधकृत्य-कारिता को सदैव दृढ़ निश्चय द्वारा जो भक्तिमान् पुरुष परिशीलन करता रहता है, उसको अपना महेश्वर-स्वभाव प्रकट हो जाता है। इसलिये जो पुरुष इसके परि-शीलनशील होते हैं वे संसार को अपने स्वरूप विकासमय जानते हुए सदैव जीवन मुक्त ही कहे जाते हैं और जो लोग परिशीलनशील नहीं होते, वे लोग अपने से भिन्न तथा परस्पर भिन्न पदार्थों को देखते रहते हैं, अतः बद्ध कहे जाते हैं।

टिप्पणी—

यहां ईश्वराद्वय दर्शन का ब्रह्मवादियों से इतना भेद है कि सृष्टि, स्थिति, संहार पिधान और अनुग्रह के कर्ता तथा शरण में आए हुए भक्तों की पीड़ा का नाश करने

वाले देव आगम शास्त्रों अथवा श्रीमत् स्वच्छन्द आदि शास्त्रों के अनुसार श्री भगवान सदा पञ्चकृत्यों में निरत रहते हैं। यह ही उनके नित्य कृत्य हैं। जिस प्रकार भगवान् बाह्य पदार्थों के विकास के क्रम द्वारा सृष्टि इत्यादिपंचकृत्य करता है— जो उसके वास्तविक स्वभाव का ही विकास है, उसी प्रकार संकुचित शक्ति द्वारा संसारी अवस्था में भी पञ्चकृत्य करता है। क्योंकि ऐसा ईश्वर प्रत्यभिज्ञा आह्निक ६ सूत्र ७ में भी कहा है। ऐसी अवस्था होने पर व्यवहार काल में भी प्रभु देह आदि में प्रवेश करते हुए अभ्यन्तर भासमान पदार्थ को ही अपनी इच्छा द्वारा बाह्य अवस्था में प्रकट करते हैं। प्रत्यभिज्ञा कारिका की इस उक्ति के अनुसार जब भगवान् जो कि शिवत्व सम्पन्न हैं, देह प्राण आदि की अवस्था में प्रवेश करते हैं, अथवा जीव का स्वांग धारण कर कर्तृत्व भाव ग्रहण कर विभिन्न लोकों और देहों में संसारी बन कर विचरण करते हैं, नीलपीत आदि वस्तुओं के स्वभाव को ग्रहण करने पर भिन्न भिन्न प्रकार के देश और कालों में प्रकट होते हैं तथा नियत देश काल आदि में दिखाई देते हैं, तब नियत अथवा सीमित देश काल आदि किसी वस्तु में शिव की सृष्टि तथा दूसरे देश काल सीमित वस्तु में इस शिव की संहार दशा, नील पीत इत्यादि वस्तुओं में भासित होने पर उसकी स्थिति दशा, भेद ग्रस्त वस्तुओं में आभासित होने पर उसकी पिधान दशा और प्रत्येक वस्तु में प्रकाश के संग स्फुटित होने पर इसकी अनुग्रह दशा का भान होता है।

पञ्चकृत्य करने का स्वभाव जैसे भगवान् का है, उसे मैंने विस्तारपूर्वक स्पन्द निर्णय शास्त्र में कहा है।

इस प्रकार पञ्चकृत्यों को प्रतिक्षण अपने स्वरूप में स्थित रहते हुए जो जानता और करता है तथा पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर उसे अभ्यास में लाता है, ऐसे भक्त को महेश्वर दशा का भान होता है॥ भक्तिमान् अथवा भक्तजन जो निरन्तर इन पञ्चकृत्यों के अभ्यास का परिशीलन करते हैं, वह चिति को जगत् रूप में विकसित हुई जानते हुए अथवा जगत् को स्वरूप का ही विकास समझते हुए जीवन मुक्त ही हैं। ऐसा शास्त्रों में कहा गया है॥

इसके विपरीत जो ऐसा नहीं जानते हैं और सब पदार्थ वर्गों को भिन्न-भिन्न रूप से देखते हैं वह सदा बन्धन युक्त रहते हैं।

टिप्पणी—

पञ्चकृत्य का कर्ता वही भगवान है। वही इस विश्वनाटक का सूत्रधार है। वही अभिनेता है। दर्शक भी वही है। नाटक की रचना भी उन्होंने ही की है और अभिनय भी विभिन्न रूप धारण करते हुए वे ही करते हैं। स्वयं किये जा रहे अभि-

नय को विभिन्न रूपों में देखकर वे ही मुग्ध भी हो रहे हैं। इतना होने पर वे सब कुछ करते हुए कुछ भी नहीं करते और कुछ न करके भी सब क्रियाओं के एक मात्र कर्त्ता वे स्वयं ही हैं। यह पञ्चकृत्य उन्हीं का एक अंश है। उनमें अनन्त शक्तियां हैं। जब वह पशु का रूप धारण करते हैं, तब उनकी सब शक्तियां संकुचित हो जाती हैं और उनको बद्धपशु के रूप में प्रकट करती है। उस समय शिव बन्धन में प्रकट होते हैं। परन्तु जब वह शिव रूप में विराजमान रहते हैं तब वह शक्तियां इन का सत्कार करती हैं एवं उनके शिवोचित रूप का भूषण बन जाती हैं।

न च अयमेव प्रकारः पञ्चविधकृत्यकारित्वे, यावत् अन्योऽपि कश्चित् रहस्यरूपोऽस्ति ।—इत्याह ।

आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन विलापनतस्तानि ॥११॥

'पञ्चविधकृत्यानि करोति' इति पूर्वतः सम्बध्यते । श्रीमन्महार्थदृष्ट्या दृगादि देवी प्रसरण क्रमेण यत् यत् आभाति, तत् तत् सृज्यते; तथा सृष्टे पदे तत्र यदा प्रशान्तनिमेषम् कंचित् कालं रज्यति, तदा स्थिति— देव्या तत् स्थाप्यते; चमत्कारापरपर्याय विमर्शन समये संह्रियते ॥ यथोक्तं, श्री रामेण—

समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः ।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्ति बलशालिभिः ॥

इति यदा तु संह्रियमाणमपि एतत् अन्तः विचित्रासङ्कादि संस्कारम् आधत्ते, तदा तत् पुनः उद्भविष्यत्संसारबीजभावमापन्नं विलय पदम् अध्यारोपितम् । यदा पुनः तत् तथा अन्तः स्थापितम् अन्यत् वा अनुभूयमानमेव हठपाकक्रमेण अलंग्रास-युक्तया चिदग्नि साद्भावम् आपद्यते, तदा पूर्णतापादनेन अनुगृह्यते एव । ईदृशं च पञ्चविधकृत्यकारित्वं सर्वस्य सदा संनिहितमपि सद्गुरूपदेशं बिना न प्रकाशते, इति सद्गुरुसपर्यैव एतत् प्रथार्थम् अनुसर्तव्या ॥११॥

केवल पूर्वोक्त प्रकार से ही पंचविध कृत्य को नहीं करता है, किन्तु अन्य भी रहस्य रूप पंचविध कृत्यकारिता है । अर्थात उपरोक्त पंचकृत्य करने का केवल यही एक प्रकार नहीं है, किन्तु दूसरा भी कोई रहस्य इसके अतिरिक्त है । उसको सूत्र द्वारा कहा है—

सूत्र ११—आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन और विलापन के द्वारा भी पंचकृत्य करते हैं ।

टीकाकार यहां पर कहते हैं पंचविधकृत्य करता है, इस वाक्य का पहले सूत्र से यहां सम्बन्ध जोड़ कर और आभासन आदि को स्पष्ट रूप से वर्णित करके कहते हैं कि श्रीमान् महार्थ शास्त्र में कथित दृगादि देवी अर्थाय नेत्रादि इन्द्रियों के फैलने पर जो देखने में आता है, उसी की सृष्टि होती है । एवं इस तरह से जो उत्पन्न हुआ है, उसी में कुछ निमेष तक शान्त होकर रंजित होता हुआ वह पदार्थ को जानता है, तब स्थिति देवी द्वारा वह पदार्थ स्थापित होता है । एवं चमत्कारात्मक

तथा चमत्कार नाम के विमर्श के समय में उसका संहार हो जाता है। जैसा कि श्री राम कण्ठाचार्य ने स्पन्द निर्णय में कहा है कि भेदमय पहाड़ अन्य लोगों के द्वारा समाधि रूप वज्र से भी नहीं तोड़ा जाता है, किन्तु आपकी भक्ति रूपी शक्ति वाले पुरुष जब उसका परामर्शन ही करते हैं तो उस भेदमय पहाड़ को नष्ट कर देते हैं। इति। जब नष्ट हुआ भी वह विषय अन्तःकरण में अनेक प्रकार की विचित्र शंकाओं के संस्कार का आधान करता है तब वह वहीं आगे होने वाले संसार का संस्कार बीज रूपता को प्राप्त कर विलय कहलाता है और जब फिर अन्तःकरण में स्थापित संस्कारों को या अनुभव काल में भी आए हुए दूसरे विषयों को दृढ़ पाक क्रम से अथवा **अलंग्रास युक्ति** द्वारा चिद्रूप ही बना लेता है, तब पूर्णता प्राप्त कर लेने से अनुगृहीत होता है। दृढ़ पाक-अलंग्रास से तात्पर्य है कि आग्रहपूर्वक बलात्कारेण वस्तुओं को चिद्रूप ही कर लेना अर्थात अपने से भिन्न नहीं रहने देना—इस प्रकार जो पंचविध कृत्यकारिता है, वह सदा ही सबके समीप ही है। अर्थात होती ही रहती है। परन्तु फिर भी उसको स्पष्ट देखने के लिये सद्गुरु की पूजा ही करनी चाहिये।

टिप्पणी—

किसी पदार्थ का प्रादुर्भाव होना ही आभासन—(सृष्टि)—है उस पदार्थ में रागी होना अनुरक्ति (स्थिति) है और उसी पदार्थ का आत्मावस्था में विमर्श करना संहार है। उसी वस्तु को संस्कार में रखना बीजारोपण (पिधान) है और अन्त में इन सब अवस्थाओं को लय करना ही अनुग्रह अवस्था कही गई है। इन पंचकृत्यों की व्याख्या पूर्व सूत्र से सम्बन्धित है। श्रीमान् महार्थ दृष्टि की रीति के अनुसार ज्ञानेन्द्रिय इत्यादि शक्तियों के विकसित होने के क्रम द्वारा जो वस्तु दृष्टि गोचर होती है वह वस्तु सृष्टि में आती है (आत्म स्वरूप को विभिन्न रूपों में धारण करने को स्थिति कहते हैं) सृष्टि में आई हुई वस्तु पर जब गिश्चल दृष्टि से कुछ समय तक स्थित होता है अथवा निश्चल दृष्टि से देखता है तब स्थिति शक्ति द्वारा वह वस्तु स्थिति में आती है और विमर्श दशा में इसी वस्तु का संहार होता है॥

विमर्श का दूसरा नाम चमत्कार है—जैसा श्रीराम कण्ठाचार्य ने इस श्लोक में कहा है—समाधि रूपी वज्रों द्वारा भी कई विद्वानों का भेद रूपी पर्वत नष्ट नहीं हो पाया किन्तु भक्ति के बल से सुशोभित भक्त विमर्श करते ही इस भेद रूपी पर्वत को नष्ट कर सकते हैं॥

यदि संहार के समय जीव भीतर से कुछ विचित्र शंकाओं के संस्कारों से प्रभावित होता है, तो इस मल के आवरणवश पुनः उत्पन्न होने वाले संसाररूपी बीज से युक्त निग्रह अथवा पिघान दशा को प्राप्त होता है।

इसके विपरीत जब उस उत्पन्न हुई वस्तु को पुनः उसी क्षण हठपाक की विधि से अथवा अलंग्रास की युक्ति से चित् अग्नि से दग्ध किया जावे, तो अनुग्रह से युक्त योगी को आवरण के हट जाने पर पूर्णता का लाभ होता है।

साधारण पंचकृत्यों का वस्तुतत्त्व-विषयक कर्तृत्व ज्ञान सब जीवों के हृदय में उपस्थित है, तथापि श्री सद्गुरु के उपदेश के बिना जीव को इस ज्ञान का अनुभव नहीं होता। इसी कारण वह जन्म-मृत्यु के स्रोत में बहता चला जाता है। अतएव पंचकृत्यों के ज्ञान हेतु श्री सद्गुरु की भक्तिपूर्वक सेवा अनिवार्य है, ताकि उनकी कृपा से पंचकृत्यों का ज्ञान प्राप्त हो।

जिस साधक को श्री सदगुरु का उपदेश प्राप्त नहीं होता, उसमें इन पंचकृत्यों के ज्ञान की कैसे सम्भावना हो सकती है तब वह अपनी ही शक्तियों द्वारा मोहग्रस्त होता है। इस मल के आवरणवश जीव शिवत्व से सम्पन्न होता हुआ भी इसे भूल जाता है।

टिप्पणी—

शास्त्र के अनुसार श्री भगवान् सदा पञ्चकृत्यों में निरत रहते हैं। यह इनके नित्य कृत्य हैं। शास्त्रों के अनुसार जीव या पशु अनादि काल से मल से आवृत है। यद्यपि जीवत्व शिवत्व से पूर्ण है, तथापि मल से आवृत होने के कारण जीव अपना शिवत्व भूल कर जीवत्व का स्वांगधारण कर विविध—भिन्न-भिन्न लोकों और देहों में विचरता है। इस आवागमन रूपी चक्र के मूल में है उसकी आत्म विस्मृति। वस्तुतः इस विस्मृति के मूल में है मल की आवरण शक्ति। यह परमेश्वर की इच्छा से बनी है, एवं उनकी इच्छा अर्थात अनुग्रह से जब यह आवरण शक्ति हट जाती है, तब जीव शिवत्व को प्राप्त करता है॥

यही उसकी परामुक्ति है। इस निग्रह और अनुग्रह के मूल में श्रीभगवान् स्वयं हैं। एवं दोनों के मध्य में सृष्टि, स्थिति और संहार का चक्र चलता है।

मायिक उपादानों से देह का ग्रहण करना ही सृष्टि है। उस देह का संरक्षण स्थिति है। एवं मृत्यु व प्रलय में उसकी निवृत्ति अथवा संहार है। जब तक देह बीज नष्ट न हो जावे, तब तक देह प्राप्ति का अन्त नहीं होता। इसलिये सृष्टि, स्थिति और संहार का चक्र निरन्तर घूमता रहता है। देह बीज के नष्ट हो जाने पर अर्थात अविवेक और अविद्या की निवृत्ति होने पर देह ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु जीव का परस्वरूप जो है, उसकी प्राप्ति उसे तब भी नहीं होती। उसके लिये श्री भगवान् की अनुग्रह शक्तिक्रिया अवश्य ही अपेक्षित है।

यस्य पुनः सद्गुरूपदेशं विना एतत्परिज्ञानं नास्ति, तस्य अवच्छादित स्वस्वरूपाभिः निजाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं भवति ।।—इत्याह—

तद परिज्ञाने स्वशक्ति भिर्व्यामोहितता संसारित्वम् ।।१२।।

"तस्य" एतस्य सदा संभवतः पञ्चविधकृत्यकारित्वस्य 'अपरिज्ञाने' शक्तिपात हेतुकस्वबलोन्मीलनाभावात् अप्रकाशने स्वाभिः शक्तिभिः व्यामोहितत्वं—विविधलौकिकशास्त्रीयशङ्काशङ्कुकीलितत्वं यत्—इदमेव संसारित्वम् । तदुक्तं श्री सर्ववीर भट्टारके ।

अज्ञानाच्छङ्कते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ।। इति
मन्त्रा वर्णात्मका सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मका ।। इति च

तथाहीचित्प्रकाशात् अव्यतिरिक्ता नित्योदित्त महामन्त्ररूपा पूर्णाहंविमर्शमयी या इयं परा वाक्शक्तिः आदि-क्षान्त-रूपा-शेषशक्तिचक्रगर्भिणी सा तावत् पश्यन्ती मध्यमादिक्रमेण ग्राहकभूमिका भासयति । तत्र च परारूपत्वेन स्वरूपम् अप्रथयन्ती माया प्रमातुः अस्फुटासाधारणार्थावभासरूपां प्रतिक्षणं नवनवां विकल्पक्रियामुल्लासयति, शुद्धामपि च अविकल्पभूमिं तदाच्छादितामेव दर्शयति । तत्र च ब्राह्म्यादिदेवताधिष्ठितककारादि विचित्रशक्तिभिः व्यामोहितो देहप्राणादिमेव परिपितम् अवशम् आत्मानं मन्यते मूढजनः । ब्राह्म्यादिदेव्यः पशुदशायां भेदविषये सृष्टिस्थिती अभेदविषये च संहारं प्रथयन्त्यः, परिमित विकल्पपात्रतामेव संपादयन्ति; पतिदशायां तु भेदे संहारम्, अभेदे च सर्गस्थिती प्रकटयन्त्यः, क्रमात्क्रमं विकल्पनिर्ह्रासनेन श्रीमद्भैरवमुद्रानुप्रवेशमयीं महतीम् अविकल्पभूमिमेव उन्मीलयन्ति ।।

सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ।।

इत्यादिरूपां चिदानन्दावेशमग्नां शुद्धविल्पशक्तिम् उल्लासयन्ति ।

ततः उक्तनीत्या स्वशक्तिव्यामोहितत्तैव संसारित्वम् ।।

किंच चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी-गोचरी-दिक्चरी भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृ-अन्तःकरण-बहिष्करण-भावस्वभावैः परिस्फुरन्ती, पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किंचित्कर्तृत्वाद्यात्मक-कलादि—शक्त्यात्मना खेचरीचक्रेण गोपितपारमार्थिक-चिद्गगनचरीत्व—स्वरूपेण चकास्ति; भेदनिश्चयाभिमान—विकल्पनप्रधानान्तःकरण-देवीरूपेण

गोचरी चक्रेण गोपिताभेदेनिश्चयाद्यात्मक-पारमार्थिकस्वरूपेण प्रकाशते ; भेदालोचनादि प्रधानबहिष्करणदेवतात्मना च दिक्चरीचक्रेण गोपिता भेदप्रथात्मक-पारमार्थिकस्वरूपेण स्फुरति; सर्वतो व्यवच्छिन्नाभास-स्वभावप्रमेयात्मना च भूचरीचक्रेण गोपितसार्वात्म्यस्वरूपेण पशुहृदयव्यामोहिना भाति। पतिभूमिकायां तु सर्वकर्तृत्वादिशक्त्यात्मकचिद्गगनचरीत्वेन अभेदनिश्चयाद्यात्मना गोचरीत्वेन अभेदालोचनाद्यात्मना दिक्चरीत्वेन, स्वांगकल्पाद्वयप्रथासारप्रमेयात्मना च भूचरीत्वेन पति हृदयविकासिना स्फुरति । तथा च उक्तं सहज चमत्कारपरिजनिताकृतकादरेण भट्टदामोदरेण विमुक्तकेषु...

पूर्णाविच्छिन्नमात्रान्तर्बहिष्करणभावगाः ।
वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात्स्युर्मुक्तिबन्धदाः ।।
इति । एवं च निजशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम् ।।

अपि च चिदात्मनः परमेश्वरस्य स्वा अनपायिनी एकैव स्फुरत्तासार-कर्तृतात्मा ऐश्वर्यशक्तिः । सा सदा स्वरूपं गोपयित्वा पाशेव पदे प्राणापान-समान-शक्तिदशाभिः जाग्रत्स्वप्न—सुषुप्तभूमिभिः देह—प्राण—पुर्यष्टककलाभिश्च व्यामोहयति। तदतद्व्यामोहितता संसारित्वम्; यदा तु मध्यधामोल्लासाम् उदान-शक्ति, विश्वव्याप्तिसारां च व्यानशक्ति तुर्यदशारूपां तुर्यातीत-दशारूपां च चिदानन्दघनाम् उन्मीलयति, तदा देहाद्यवस्थायामपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तर्भवति ।। एवं त्रिधा स्वशक्तिव्यामोहितता व्याख्याता। चिद्वत् इति (६) सूत्रे चित्प्रकाशो गृहीतसंकोचः संसारी इत्युक्तम्, इह तु स्वशक्तिव्यामोहितत्वेन अस्य संसारित्वं भवति—इति भङ्ग्यन्तरेण उक्तं ।। एवं संकुचित शक्तिः प्राणादिमानपि यदा स्वशक्ति व्यामोहितो न भवति तदा अयम् ।

······शारीरी परमेश्वरः ।।

इत्याम्नायस्थित्या शिवभट्टारक एव—इति भङ्ग्यानिरूपितं भवति—यदागमः —मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः—इति उक्तं च प्रत्यभिज्ञाटीकायाम्—

शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशतत्वमयं शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति—इति ।।१२।।

जिसको सद्गुरु के उपदेश का लाभ नहीं हुआ है, अथवा ज्ञान नहीं हुआ है, उसको अपने स्वरूप को आच्छादित रखती हुई अपनी शक्ति के द्वारा ही व्यामोह होता है, यही बात कहने के लिए सूत्र है—

सूत्र—१२—कि अपनी शक्ति के द्वारा ही व्यामोह होता है । इस पञ्चविध कृत्य कारित्व का ज्ञान न होने से अपनी शक्ति से ही मोहित होकर रहना होता है। यही संसारित्व अर्थात बन्धन है ।

टीकाकर व्याख्या करते हैं—कि उसका अर्थात् पञ्चकृत्यकारित्व का अज्ञान रहने से, अर्थात शक्तिपात जन्य अपने बल का प्रकट्य न होने से, अपनी शक्ति से ही व्यामोहितपना रहता है; अर्थात अनेक प्रकार के लौकिक तथा शास्त्रीय शंका रूप कीलों से जो कीलित होकर रहना होता है, वही संसारिक बन्धन है। इसी बात को श्री सर्ववीर भट्टारक ग्रंथ में ऐसे कहा गया है कि लोग अज्ञान से ही शंका करते हैं, उसी से ही सृष्टि और संहार होता रहता है।

सब मंत्र वर्ण स्वरूप है, एवं सब वर्ण शिव स्वरूप ही हैं—ऐसा भी कहा गया है। आशय यह है कि चित् प्रकाश से अभिन्न-स्वरूपा, निरन्तर प्रकाशित, महा मन्त्ररूपा, पूर्णाहं-विमर्श वाली जो यह पराख्पा वाक्-शक्ति है; जिसके अन्दर अ से लेकर क्ष पर्यन्त सब शक्ति समूह है वह पराशक्ति पहले पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी क्रम से ग्राहक भूमिका को प्रकट करती है। उसमें अपने पराख्पता-स्वरूप को, अर्थात शुद्ध आत्म रूपता को प्रकाशित न करती हुई माया-प्रमाता के अस्फुट-असाधारण-पदार्थों के अवभास को क्षण-क्षण में नई-नई विकल्पक्रिया को उत्पन्न करती रहती है और क्षण प्रति क्षण नवीन रूप धारण करती रहती है तथा शुद्ध अविकल्प भूमि को भी विकल्प से ही ढकी हुई दिखाती रहती है। उस स्थिति में क आदि वर्णों का रूप धारण करती हुई ब्रह्मी माहेश्वरी आदि विचित्र शक्तियों से व्यामोहित होता हुआ वशीभूत मूढ़ जन देह प्राण आदि परिमित पदार्थ को ही आत्मा मानता है। वे ब्राह्मी आदि देवियां पशु अवस्था में अर्थात अज्ञान अवस्था में भेद के विषय में अर्थात निभिन्न विषयों के अवभास में सृष्टि स्थिति को दर्शाती रहती है और अभेद के विषय में संहार को दर्शाती रहती है। यही शक्तियां पति दशा में अर्थात् पूर्णा-हम् की ज्ञानदशा में उलट कर काम करती रहती है अर्थात् अभेद में सृष्टि स्थिति करती रहती हैं और भेद में संहार करती रहती है। तब क्रमशः विकल्प का नाश करती हुई भैरव मुद्रा में प्रवेश रूपा-महती-अविकल्प भूमि को प्रत्यक्ष प्रकाशित करती हैं।

इस अविकल्प भूमि की अवस्था में यह सब कुछ विश्वरूप से प्रकाशमान मेरा ही वैभव है, मैं ही विश्वात्मा हूँ, ऐसा जानने वाले को विकल्प के प्रसार में भी महेश्वरता बनी रहती है। इस प्रकार चिदानन्द आवेश में मग्न शुद्ध विकल्प शक्ति को ही प्रकाशित करती हैं। इस प्रकार से कही हुई रीति से अपनी शक्ति द्वारा मोहित होना ही संसारी बनना है।

इस सूत्र की दूसरे प्रकार से भी व्याख्या करते हैं—संसार को वमन अर्थात प्रकट करने के कारण एवं संसार के प्रति वामाचार के हेतु से भगवती चिति शक्ति ही वामेश्वरी कहलाती है और वही खेचरी गोचरी दिक्चरी भूचरी रूप समस्त

प्रमाता अन्त.करण, बहिष्करण, एवं प्रमेय पदार्थ रूप होकर प्रकट होती है। पशु प्रमाता की स्थिति में शून्य पद में विश्रान्त होती हुई किञ्चित कर्तुत्वादि-रूप कला आदि—शक्ति आदि रूप से अर्थात् कुछ ही करने की शक्ति—कुछ ही जानने की शक्ति आदि के रूप से स्फुरित होती रहती है। इस प्रकार से स्फुरित होती हुई इस खेचरी चक्र से वास्तविक जो चिद्गगनचारित्व है अर्थात् चिदाकाश प्रसारिता है उसको ढककर प्रकाशित होती रहती है। भेद का निश्चय और अभिमान विकल्प करना ही जिसका स्वभाव है ऐसे अन्तःकरण देवी चक्र अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार रूपी गोचरी चक्र से अभेद निश्चय रूप पारमार्थिक स्वरूप को ढक कर प्रकाशित होती है। एवं भेद का ही अर्थात् भिन्न-भिन्न वस्तुओं का आलोचन करना ही जिसका प्रधान कार्य है। अभेद प्रधान वास्तविक रूप को आवृत कर दिकचरी चक्र रूप में प्रकाशित होती है। एवं भिन्न-भिन्न रूपों से प्रकाशित होने वाले जो प्रमेय हैं घटपट आदि या आकाश आदि तद्रूप भूचरी चक्र से सर्वात्म्य अर्थात सर्व रूपता आदि को ढक कर पशु हृदय को व्यामोहित करने वाली प्रकाशित होती है।

खेचरी आदि रूप वाली यही वामेश्वरी देवी पति दशा में अर्थात् जिनको शक्तिपात द्वारा ज्ञान हो गया है, उनके लिये सर्वकर्तृत्वा सर्वज्ञत्व आदि बोध गगनचरी होती हुई खेचरी रूप से, एवं अभेद् निश्चय आदि करती हुई गोचरी रूप से अभेदालोचनात्यात्मक दिक्चरी रूप से तथा अपने अंग समान ही अभिन्न रूप से प्रकाशमान प्रमेय रूप भूचरी रूप से पति प्रमाता के हृदय को विकास में लाती हुई प्रकट होती है। ऐसे ही सहज विमर्श से अत्यन्त अकृतक स्वभाव में पहुँचे हुए भट्ट दामोदर ने अपने मुक्तक श्लोक में कहा है—कि पूर्ण तथा अनवच्छिन्न प्रमाताओं के अन्तःकरण, बहिष्करण एवं प्रमेयों में विद्यमान जो वामेश्वरी आदि शक्तियाँ हैं, वे ही ज्ञान तथा अज्ञान से ही मुक्ति तथा बन्धन को देने वाली होती है। इति। इस प्रकार से अपनी शक्तियों के द्वारा व्यामोहित होना ही संसारित्व है। अर्थात् संसारी बनना है॥

पुनः तीसरी व्याख्या भी कहते हैं—अपिच इत्यादि से—चिदात्मा परमेश्वर की अपनी सदा रहने वाली स्फुरता सार वाली कर्तत्व रूपा ऐश्वर्य शक्ति है। वह जब स्वरूप को गोपन करके पशु स्थिति में प्राण, अपान, समान शक्ति रूप बन जाती है तो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति को भासित करती हुई देह प्राण पुर्यस्टक कलायों से जीव को व्यामोहित करती है, तब शक्ति के द्वारा व्यामोहित होना ही संसारित्व हो जाता है। जब वही शक्ति मध्य धाम में उल्लसित होने वाली उदान शक्ति को प्रकाशित करती है। एवं सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त व्यान शक्ति को प्रकाशित करती है, तब तुर्यादशा तथा तुर्यातीत दशा रूप चिदानन्दघन को प्रकट करती है।

उस दशा में देहादि के रहने पर भी पतिस्थिति होती है, अर्थात् जीवन मुक्ति होती है।

इस तरह तीन प्रकार से शक्ति द्वारा व्यामोहिता की व्याख्या की गई। नवम सूत्र में चिद्वत् इत्यादि शब्दों द्वारा चित् प्रकाश ही संकुचित होकर संसारी बनता है—यह कहा गया था। इस सूत्र में अपनी ही शक्ति से व्यामोहित हो जाने से चित् प्रकाश रूप आत्मा ही संसारी हो जाता है, यह दूसरे ढंग से कहा गया। वस्तुतः बात एक ही है।

इस प्रकार संकुचित शक्ति वाला होने पर भी और प्राण देहादि वाला होने पर भी यदि अपनी शक्ति से व्यामोहित नहीं होता है, तब वह चिदात्मा शरीर वाला होता हुआ ही परमेश्वर है, इस आगम द्वारा प्रतिपादित ढंग से शिव भट्टारक ही वह बना रहता है। यह भी वहां पर व्यंजना द्वारा निरूपित किया गया। जैसा कि आगम भी है—कि जो लोग व्यामोहित नहीं होते हैं, वे लोग मनुष्य देह में रहते हुए भी छिपे हुए परमेश्वर हैं ।।इति।।

प्रत्यभिज्ञा-टीका में भी कहा गया है कि जो लोग शरीर को ही या घटादि को ही ३६ तत्त्वमय शिव रूप से देखते हैं, वे लोग भी सिद्ध हो जाते हैं ।। इति ।।

टिप्पणी—

संसारी होने का अभिप्राय है उक्त पंचकृत्य की कर्तृता के ज्ञान के अभाव से अपनी ही शक्तियों द्वारा मोहित होना अथवा मोह को प्राप्त होना।

जीव जिसे यह पञ्चकृत्य सदा प्राप्त ही हैं, इन पञ्चकृत्यों के ज्ञान के अभाव के कारण अथवा शक्तिपात के अभाव के कारण आत्मविस्मृति के वश अथवा अपनी ही शक्तियों से होने वाले आवरण के वश मोह ग्रस्त होता है, तो उसका नाना शंका रूपी खूंटियों के द्वारा बन्धन में आना ही संसारी दशा है। श्री सर्व वीर भट्टारक में ऐसा कहा गया है—

अज्ञान वशात् लोग शंका में पड़ जाते हैं, यही सृष्टि और संहार का कारण है।

जितने मन्त्र हैं वे वर्णों द्वारा बनते हैं और सब वर्ण शिव रूप हैं। इसी बात को ऐसे सिद्ध किया है, कि जो वाक् शक्ति है, वह परारूपा है, जो कि चित्प्रकाश से मिली हुई नित्य ज्ञान रूपा है और महा मन्त्रमयी है। परावाक् पूर्णहन्तामयी परमैश्वर्यरूपा है। जो भी मन्त्र अथवा वाणी की ध्वनि होती है, वह अहम् विमर्श से पूर्ण है। उसी में संपूर्ण शक्तियां आधारित हैं। अ अक्षर से क्ष अक्षर पर्यन्त सब अक्षरों की आधार बनी हुई यह परा वाणी पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी के क्रम से प्रमातृत्व दशा का बोध कराती है।

टिप्पणी—

शास्त्रों में—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी—चार प्रकार की वाणियों का उल्लेख मिलता है। जो साधारण बातचीत—वार्त्तालाप में आने वाली वाणी है, उसे ही वैखरी वाणी कहते हैं। साधारणतया देखा गया है कि सद्गुरू द्वारा उपदिष्ट नाम चैतन्य सम्पन्न होने से, साधक का हृदय यदि शुद्ध हो, तो स्वयं ही निरन्तर चलना शुरू हो जाता है। उसे चलाने के लिये परिश्रम नहीं करना पड़ता। इसे अजपा जाप भी कहते हैं। इस अभ्यास के प्रगाढ़ होने पर, श्रद्धा भक्ति के प्रभाव से क्रमपूर्वक धीरे-धीरे मध्यमा, पश्यन्ती और परावाणियों का बोध हो जाता है। यही मन्त्र चैतन्य का पूर्वाभास है अर्थात दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है। सब वर्णशिव रूप हैं।

वैखरी का उच्चारण कण्ठ द्वारा ही होता है, किन्तु मध्यमा का उदय होने पर बहुधा कण्ठ रुद्ध हो जाता है, अथवा कण्ठ का रोध शुरू होने लगता है। कभी-कभी साधक को इस अवस्था में घबराहट होने लगती है। किन्तु जैसे-जैसे कण्ठ द्वार-निरुद्ध होता जाता है, दूसरी ओर वैसे ही मध्य नाड़ी का ऊर्ध्व द्वार अधिक उन्मीलित—खुलना शुरू—होता जाता है। धीरे-धीरे मन और प्राण सूक्ष्म होते चले जाते हैं, साथ ही प्राण शनैः शनैः साम्य भाव को प्राप्त होने लगते हैं। प्राणों के साम्य होने के उपरान्त सुप्त कुण्डलिनी के जागरण वश सुषुम्ना नाड़ी का द्वार खुल जाता है। तब कुण्डलिनी ही नाद का रूप धारण करती हुई ब्रह्मरन्ध्र की ओर ऊपर को चलने लगती है। जैसे-जैसे यह प्राण और अपान सूक्ष्म होते चले जाते हैं; नाना प्रकार के मधुर नाद सुनने में आते हैं। तत्त्व ज्ञानी गुरु के उपदेशानुसार समस्त ध्वनियों का परित्याग कर देना चाहिये। कुछ समय के उपरान्त इन सब मधुर ध्वनियों को सुनते-सुनते अकस्मात् गुरू कृपा से अनाहत नाद सुनाई देता है। तब वे सब अवान्तर ध्वनियां सुनाई नहीं देती हैं। क्योंकि उस समय मन अनाहत में लीन हो जाता है। यही पश्यन्ती अवस्था है। इसके प्राप्त होने पर मन उपरमता को प्राप्त हो जाता है। यही मन्त्रात्मक इष्ट देवता के साक्षात्कार की अवस्था है। यहां तो ब्रह्मरन्ध्र तक ही नाद पहुँचता है। इसके उपरान्त नाद ब्रह्म रन्ध्र से कुछ ऊपर लीन हो जाता है। शास्त्रों में इसी का नाम परावाणी है। वहां पहुंचने पर यह समस्त देह और विश्व में व्याप्त हो जाता है।

परावक् शक्ति पूर्णाहन्तामयी परमैश्वर्य रूपा होने पर भी मितप्रमाता के स्वरूप में स्थित उनके आत्मस्वरूप को आच्छादित करती है, अर्थात उनके सन्मुख उसे स्फुरित होने नहीं देती। अणु या माया प्रमाता के सम्मुख वह परावाक् परमैश्वर्य रूपा होने पर भी प्रतिक्षण नूतन विकल्पों को स्फुरित करती है।

यह सब विकल्प अस्फुट तथा असाधारण अर्थाविभास के रूप में प्रकट होते हैं। इस क्रिया के प्रभाव से शुद्ध अविकल्पभूमि उन विकल्पों से आवृत हो रही है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में मूढ़ जीव ब्राह्मी—आदि अनेक शक्तियों द्वारा मोह में पड़ा हुआ देह प्राण पुर्यष्टक और शून्य इत्यादि को ही आत्मा मानता है। ब्राह्मी इत्यादि देवियां पशुदशा में सृष्टि, स्थिति और संहार आदि को प्रकट करती हुई सीमित विकल्प दशा को प्राप्त करती है, अर्थात अणु रूपी आत्मायें स्वयं उन विकल्पों के अधीन हो जाती हैं। पशुत्व अथवा जीव भाव के उदय का यही क्रम है।

परन्तु पति (शिव) दशा के उन्मिषित होने पर यह सब ब्राह्मी, माहेश्वरी आदि शक्तियां जीव का भेदभाव हटाकर अभेद-भाव का उत्पादन और संरक्षण करती है। इसी प्रकार क्रमशः विकल्पों का क्षय-ह्रास हो जाता है। शिवत्व निखर पड़ता है। एवं अविकल्प भूमि प्रकट हो जाती है। अथवा श्री भैरव मुद्रा के प्रवेश क्रम द्वारा महान् अविकल्प भूमि का उदय हो जाता है। जिससे साधक समझने लगता है कि यह सारा जगत मेरा ही विकास मात्र है। इस प्रकार जानता हुआ ज्ञानी सब विकल्पों के उत्थान के मध्य में भी महेश्वर दशा में ही स्थित रहता है। उस समय चिदानन्दावेशमयी विकल्प शक्तियों का उत्थान होने पर शिव रूपी आत्मा समग्र जगत् को अपनी विभूति समझने लगता है। ऊपरोक्त रीति द्वारा अपनी शक्तियों से मोहित होना ही संसारी दशा कहलाती है।

टिप्पणी —

और इसके पश्चात् चिति स्वरूपा महाशक्ति भगवती 'वामेश्वरी' नाम धारण करती है, क्योंकि यह संसार को वमन करती है, तथा संसार में विरुद्ध स्वरूप को प्रकट कर उसी के द्वारा अपने स्वरूप को आच्छादित कर लेती है। यह खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरी इन चार स्वरूपों में परिस्फुरित होकर अपना कार्य करती है। शिव मित-प्रमाता बनने के लिये खेचरी शक्ति का प्रयोग करते हैं। वे अपरा दशा को ग्रहण करते हैं। उसके स्फुरण की अवस्था में प्रमाता, अन्तःकरण, बहिष्करण (बहिरिन्द्रियाँ) और प्रमेय, यह चार विभाग भिन्न-भिन्न रूप में प्रकाशित होते है।

यह सब शक्तियाँ पशुओं अथवा जीवों को विमोहित करती है और पशु भूमि में शून्य पद में विश्रान्त होकर अल्प सामर्थ्य वाले खेचरी चक्र के द्वारा भेद दशा को प्राप्त होती हैं। माया से उद्भूत होने वाली कलादि पञ्चकुंचक रूपा शक्तियां खेचरी चक्र नाम से अभिहित होती हुई स्वयं ही परमार्थिक "चिद्गगन-चारित्व स्वरूप" को आच्छादित कर लेती हैं।

गोचरी—शक्ति का स्वभाव है—अन्तः करण। इसके द्वारा आत्मा का अभेद-अविकल्पमय पारमार्थिक, स्वरूप अन्तर्धान हो जाता है।

दिक्चरी—का स्वभाव है—बहिष्करण। इसके द्वारा जो शिव का अभेद ज्ञान है, वह आवृत हो जाता है तथा भेद विचार तथा भेदप्रथा प्रकट हो जाती है।

भूचरी—का स्वभाव है—भाववर्ग या प्रमेय सत्ता। यह अपनी पारमार्थिक सर्वात्मता को आच्छादित करती है और प्रमेय वर्ग को प्रकाशित करती है। उक्त सब शक्ति चक्र पशुओं को विमोहित करते हैं। परन्तु आत्मा का जब शिव भूमि की ओर उत्थान होता है, तब यह शक्तियाँ पति प्रमाता के हृदय को विकसित करती हैं। उस समय यह खेचरी आदि शक्तियाँ आत्मा के पूर्णकर्तृत्वादि स्वधर्म की प्रकाशक 'चिद्गगनचरी' के रूप में, अभेद—निश्चय का ज्ञान कराने वाली गोचरी के रूप में, अभेद दर्शन का अनुभव कराने वाली दिक्चरी के रूप में और अपने अंगों के सदृश स्वांगकल्प प्रमेयात्मा की अद्वय प्रथारूप ज्ञान को कराने वाली भूचरी के रूप में पति हृदय को विकसित करके स्फुरित होती है। जब शक्तियाँ उन्मिषित होती हैं, तब वे समान रूप से जीव-भूमि में भी उन्मिषित होती हैं। जिन शक्तियों से जीवों के संकुचित ज्ञान-क्रिया आदि का विधान होता है, उन्हीं से पति के पूर्ण ज्ञान-क्रिया आदि का विधान भी होता है और उन्हीं से पूर्ण ज्ञान-क्रिया भी निष्पन्न-सम्पन्न होती है। उन्ही से शिवावस्था में अभेद निश्चयादि का भी विधान होता है। जिन से जीव को भेद दर्शन, भेद श्रवण. भेद स्पर्शन, भेद जिघ्रण तथा भेदास्वादन होता है, वही शिव में अभेद दर्शन आदि की हेतु बन जाती हैं। इसी को स्वाभाविक चमत्कार द्वारा आदर युक्त श्री भट्ट दामोदर ने अपने मुक्तक श्लोक में कहा है, कि पूर्ण तथा अनवच्छिन्न प्रमाता के अन्तःकरण और बहिष्करण एवं अपने प्रमेय में विद्यमान जो वामेश्वरी आदि शक्तियाँ हैं, उनके ज्ञान द्वारा मुक्ति की हेतु और अज्ञान द्वारा बन्धन की हेतु बनती हैं। अपनी शक्तियों द्वारा विमोहित होना ही संसारी दशा कहलाती है। सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, नित्यत्व, विभुत्व और आप्तकामत्व यह पाँच आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं इन्ही का नाम चिद्गगनचारित्व है। पशुदशा में इस खेचरी चक्र से आक्रान्त-आवृत—होकर शिव ही परिमित बन जाता है और शून्य पद में विश्रान्ति करता है। इस प्रकार परमात्मा स्वेच्छा से जीव भाव ग्रहण करने पर मित प्रमाता बनने के लिये खेचरी चक्र का प्रयोग करता है। उस समय यह अल्पकर्त्ता, अल्पज्ञ, अनित्य, नियतदेशवृत्ति और भोगाकांक्षा से अलङ्कृत होता है।

चिदात्मा की निज की अनपायिनी शक्ति ही उनकी ऐश्वर्य शक्ति है। इसी का नामान्तर है—कर्तृत्व। जीव अवस्था में उक्त शक्ति आत्म स्वरूप को आच्छादित

करती है। तब यह प्राण अपान और समान रूप धारण करती हुई जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति भूमियों द्वारा देह प्राण और पुर्यष्टक वर्गों से आत्मा को विमोहित करती है। यही संसारी दशा है। परन्तु जब साधक अथवा योगी शिव रूपी स्वात्मा के सन्मुख हो जाता है, तब यही शक्ति मध्य-धाम अथवा सुषुम्ना मार्ग में उल्लसित होकर 'उदान' नाम धारण करती हुई ऊर्ध्व दिशा की ओर अग्रसर होने लगती है। इस ऊध्व गति की समाप्ति हो जाने पर यही शक्ति 'व्यान' नाम ग्रहण कर समस्त देह में तथा विश्व में व्याप्त हो जाती है। उस समय योगी देहात्म-भाव से पूर्णतया मुक्त होकर व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। योगशास्त्र में यह तुरीया तथा तुर्यातीत नाम से कथित हैं। यह दो दशाएँ चिदानन्दघनमयी हैं और यह दोनों ही शिव दसाएँ हैं। इन्हीं का नाम है—जीवन् मुक्ति। इस दशा का उदय जीवनकाल में भी हो सकता है।

ऐसे अपनी शक्तियों से मोहित होना तीन प्रकार से कहा गया है—चिद्वत् (सूत्र ९) में कहा है कि चित् प्रकाश ही संकोच के ग्रहण करने पर संसारी कहा गया है और अन्य प्रकार से अपनी शक्तियों द्वारा विमोहित होने पर शिव ही संसारी दशा को प्राप्त होता है। अन्य रीति से कहा है कि संकुचित प्राण आदि शक्तियों से युक्त होने पर भी जब वह मोहित नहीं होता, तो यह जीव शरीरधारी होते हुए भी परमेश्वर ही है, अथवा आगमानुसार परम शिव ही कहा जा सकता है अथवा मनुष्य देह में स्थित छिपा हुआ परमेश्वर ही है। प्रत्यभिज्ञा की टीका में भी ऐसा ही कहा गया है, कि केवल शरीर को ही नहीं, किन्तु—घटादि समस्त बस्तु वर्ग को जो छत्तीस तत्वमय शिव भाव से पूर्ण देखता है, वह सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

उक्त सूत्रार्थप्रातिपक्ष्येण तत्त्वदृष्टि दर्शयितुमाह—

तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन
चेतन पदाध्यारोहात् चितिः ।।१३।।

पूर्वसूत्रव्याख्याप्रसङ्गेन प्रमेयदृष्टया वितत्य व्याख्यातप्रायमेतत् सूत्रम्, शब्दसंगत्या तु अधुना व्याख्यायते। 'तस्य' आत्मीयस्य पञ्चकृत्यकारित्वस्य "परिज्ञाने" सति अपरिज्ञान लक्षणकारणापगमात् स्वशक्तिव्यामोहितता निवृत्तौ स्वातन्त्र्यलाभात् प्राक् व्याख्यातं यत् 'चित्तं' तदेव संकोचिनीं बहिर्मुखतां जहत्, अन्तर्मुखीभावेन चेतन पदाध्यारोहात्—ग्राहकभूमिकाक्रमण—क्रमेण संकोचकलाया अपि विगलनेन स्वरूपापत्त्या "चित्तिर्' भवति; स्वां चिन्मयीं परां भूमिमाविशति इत्यर्थः ।।१३।।

पूर्व सूत्र में जो पंचविधकृत्य कारिका को न जानने से व्यामोहितपना कहा गया है, उसके विपरीत तत्त्वदृष्टि दिखाने के लिये यह सूत्र है—

सूत्र १३—उस पंचविधकृत्य कारित्व को जान लेने से चित् ही जब अन्तर्मुख होकर चेतन पद पर आरूढ़ हो जाता है, तो वह चिति कहलाता है ।।

टीकाकार कहते हैं कि पूर्व सूत्र की व्याख्या में ही प्रसंग वश इस सूत्र के भी भावार्थ अर्थात् प्रमेय विषय की व्याख्या हो गई है, केवल शब्द संगति यहाँ दिखाता हूँ। तस्य अर्थात् उस अपने पंचविधकृत्य कारित्व का ज्ञान हो जाने से अज्ञान रूप कारण दूर हो जाता है और अपनी शक्ति द्वारा जो व्यामोह था, वह हट जाता है। इसलिये स्वातन्त्र्य के लाभ के हो जाने से जो ऊपर के सूत्र में व्याख्यात चित है, वह संकोच करने वाली बहिर्मुखता का त्याग करता हुआ अन्तमुख होकर चेतन पद पर आरूढ हो जाता है। अतः प्रमातृता पद पर आरोहण के क्रम से संकोच के विगलन—शिथल होने से अपने चिति स्वरूप को प्राप्त हो जाता है और अपनी चिन्मयी परमा भूमि में प्रविष्ट हो जाता है।

टिप्पणी—

अपने पंचकृत्यों का ज्ञान जब जीव को प्राप्त होता है, तो चित्त अथवा अन्तःकरण के अन्तर्मुख होने पर चेतन पद में आरूढ़ हो जाता है, अथवा प्रवेश करता है, तो उसे चिति ही कहा जाता है।

पूर्व सूत्र में विस्तार पूर्वक इस सूत्र की व्याख्या की गई है। अब केवल शब्दों द्वारा इस सूत्र की टीका कही जा रही है। उन अपने स्वाभाविक पंचकृत्यों के

ज्ञान के हो जाने पर अपरिज्ञान जब मिट जाता है, अथवा वह आवरण शक्ति जब हट जाती है तथा अपनी शक्तियों द्वारा मोहित होने वाला भाव भी नष्ट हो जाता है अर्थात् विरुद्ध शक्तियों का समीकरण हो जाता है अर्थात् विरुद्ध शक्तियों का विरोध हटने के कारण मोह भी मिट जाता है तथा शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है तब पिछले सूत्र में कहा गया जो चित्त है, वही चित्त संकोच रूप बहिर्मुखता को त्यागता हुआ अन्तर्मुखी भाव के द्वारा चैतन्य पद पर आरूढ़ होता है। तब ग्रहक अर्थात् कर्तृत्व भाव को क्रमपूर्वक ग्रहण करने पर उसकी संकोच दशा भी मिट जाती है और वह पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति होने पर चिति ही बन जाता है। तब वह अपनी पूर्ण चिदानन्दघन पर दशा को ही प्राप्त करता है।

ननु यदि पारमार्थिकं चिच्छक्तिपदं सकलभेदकवलनस्वभावं तत् अस्य मायापदेऽपि तथारूपेण भवितव्यं यथा जलदाच्छादितस्यापि भानोः भावावभासकत्वम्। —इत्याशङ्क्य आह।

चितिवह्निरवरोहपदेछन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुष्यति ॥१४॥

'चितिरेव' विश्वग्रसनशीलत्वात् 'वह्निः;' असौ एव 'अवरोहपदे—माया-प्रमातृतायां 'छन्नोऽपि'—स्वातन्त्र्यात् आच्छादितस्वभावोऽपि, भूरिभूतिच्छन्नाग्निवत् 'मात्रया'—अंशेन, नीलपीतादिप्रमयेन्धनं 'प्लुष्यति'—स्वात्मसात् करोति। मात्रापदस्य इदम् आकूतम् — यत् कवलयन् अपि सार्वात्म्येन न ग्रसते; अपितु अंशेन; संस्कारात्मना उत्थापयति ग्रासकत्वं च सर्वप्रमातृणां स्वानुभवत एव सिद्धम्। यदुक्तं श्रीमदुत्पलदेवपादैः निजस्तोत्रेषु।

वर्तन्ते जन्तवोऽशेषा अपि ब्रह्मेन्द्र-विष्णवः।
ग्रसमानास्ततो वन्दे देवं विश्वं भवन्मयम्॥ इति ॥१४॥

अब शंका होती है कि पारमार्थिक अर्थात वास्तविक चित्शक्ति यदि सम्पूर्ण भेदों को निगल जाने वाली है, तब मायीय अवस्था में भी वैसा वह क्यों नहीं करती है। जैसे मेघों से आच्छादित होते हुए भी सूर्य पदार्थों को प्रकाशित करता है। इस शंका के समाधान में यह सूत्र है—

टिप्पणी—

अब किसी को यह शङ्का हो कि यदि परमार्थरूपा चित्शक्ति सारे भेदों को ग्रास करने के स्वभाव वाली है तब इस मायादशा में भी उसे चितशक्ति रूपता से पूर्ण होना चाहिये। जैसे सूर्य बादलों से ढका हुआ भी हो, तो भी उसमें पदार्थों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य होती है। "चिति को इसमें सूर्य की उपमा दी है और माया को बादल की।" इसी शंका को लेकर अब सूत्र कहता है।

सूत्र १४—चिति ही जो सम्पूर्ण विश्व को ग्रास कर लेने से अग्नि है, वही अवरोह पद में अर्थात् माया प्रमातावस्था में आच्छन्न होने पर भी अर्थात् अपनी स्वतन्त्रता के विकास से अपनी ही शक्तियों से ढक जाने पर भी प्रचुर भस्म से ढकी हुई अग्नि की न्याई कुछ मात्रा से, अर्थात् अंश से, नील पीत आदि प्रमेय रूप लकड़ी को प्लोषित, अर्थात् अपने आधीन—आत्मसात् करती है। मात्रा पद का यहां यह तात्पर्य है कि पदार्थों को ग्रास करती हुई भी पूर्ण रूप से ग्रस्त नहीं करती, किन्तु कुछ अंश में ही ग्रास करती है। अतः संस्कार रूप से फिर उसको स्मरण आदि में

उपस्थित करती है अर्थात् ले आती है। कैसे ग्रसन करती है यह तो सब लोगों को अपने अनुभव से ही सिद्ध है। क्योंकि किसी भी पदार्थ को देख सुन कर उसे अपने प्रकाशात्मक स्वभाव में ही ले आती है। अर्थात् उन वस्तुओं को प्रकाशमान बना देती है। जैसा कि आचार्य उत्पलदेव ने अपने स्तोत्र में कहा है कि सब जन्तु-प्राणी और ब्रह्मादिक भी पदार्थों को ग्रसित करते रहते हैं। इसलिये हे देव मैं आपमय विश्व को ही नमस्कार करता हूं ।।इति।।

टिप्पणी—

चिति रूपा अग्नि अवरोह क्रम में माया से छिपी होने पर भी प्रमेय रूपी लकड़ी को किंचित् जला देती है। चिति भगवती ही विश्व को ग्रास करने के स्वभाव वाली होने से अग्नि रूपा है। यह चिति अवरोह पद में माया प्रमातृता से कुछ मात्रा में आच्छादित होने पर अर्थात् अपनी इच्छा से ही अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाती हुई, स्वतन्त्र शक्ति के स्वभाववश भस्म से ढकी हुई अग्नि रूपा होती हुई, छिपी हुई अग्नि के सदृश अंश में अर्थात् किंचित् मात्रा में, इन नील पीत आदि प्रमेय रूपी इंधनों को जला देती है और अपने पूर्ण स्वभाव में आत्मसात् कर लेती है अर्थात् यहां चिति सम्पूर्ण रूप से तो उसे ग्रास नही करती, किन्तु कुछ मात्रा में उसे ग्रास करती है, जिसके संस्कार वश—फलस्वरूप—यह उसे स्मृति इत्यादि में पुनः खड़ा कर देती है।

ग्रास करने का स्वभाव सब जीवों का है यह अपने अनुभव से ही सिद्ध ाता है।

जैसा कि श्री उत्पलदेव लिखित शिवस्तोत्रावली—२० स्तोत्र १७ श्लोक—में कहा है—हे शंकर इस संसार में सभी प्राणी यहां तक कि ब्रह्मा, इन्द्र और विष्णु आदि भी सदैव ग्रास करते हुए दिखाई देते हैं, इसलिये आप से अभिन्न रूप सारे जगत को मैं प्रणाम करता हूं।

यदा पुनः करणेश्वरीप्रसरसंकोचं संपाद्य सर्गसंहारक्रमपरिशीलनयुक्तिम् आविशति तदा

बललाभे विश्वमात्मसात्करोति ॥१५॥

चितिरेव देह प्राणाद्याच्छादननिमज्जनेन स्वरूपम् उन्मग्नत्वेन स्फारयन्ती बलम्; यथोक्तम्

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः ... ... ॥ इति ॥

एवं च 'बललाभे'—उन्मग्नस्वरूपाश्रयणे, क्षित्यादि—सदाशिवान्तं 'विश्वम्' आत्मसात् करोति' स्वस्वरूपाभेदेन निर्भासयति । तदुक्तं पूर्व गुरुभिः स्वभाषामयेषु क्रमसूत्रेषु—'यथा वह्निरूद्बोधितो दाह्यं दहति तथा विषयपाशान् भक्षयेत्—इति—

न चैवं वक्तव्यम्—विश्वात्मसात्काररूपा समावेशभूः कदाचित्की । कथम् उपादेया इयं स्यात् इति; यतो देहाद्युन्मज्जननिमज्जनवशेन इदम् अस्याः कादाचित्कत्वम् इव आभाति । वस्तुतस्तु चितस्वातन्त्र्यावभासित देहाद्युन्मज्जनात् एव कदाचित्कत्वम् । एषा तु सदैव प्रकाशमाना; अन्यथा तत् देहादि अपि न प्रकाशेत । अतएव देहादि प्रमातृताभिमाननिमज्जनाय अभ्यासः, न तु सदा प्रथमानतासारप्रमातृताप्राप्त्यर्थम्, इतिश्रीप्रत्यभिज्ञाकारः ॥१५॥

जब फिर से करणेश्वरियों के प्रसार को और संकोच को करके सृष्टि संहार क्रम के अनुशीलन का युक्ति को योगी ग्रहण करता है ।

सूत्र १५—तब चिति के बल के लाभ के हो जाने से सम्पूर्ण विश्व को अपने अधीन कर लेता—आत्मसात् कर लेता है । अर्थात अपने को विश्व स्वरूप समझने लगता है ॥

टीकाकार कहते हैं कि देह प्राणादि जो चिति का आच्छादन है, अर्थात जिनके द्वारा चिति का स्वरूप ढका हुआ है, वह जब दूर हो जाता है और उसका अपना स्वरूप ऊपर उठने—प्रकट होने लगता है, तब चिति ही बल बन जाती है । यही स्पन्द शास्त्र में भी कहा गया है—उसी बल के ऊपर आक्रमण अर्थात् आरोहण करके मंत्रादिक बलशाली बन जाते हैं । इति ।

इस प्रकार बल लाभ हो जाने से अर्थात् स्वरूप की उन्मग्नता के आ जाने से पृथ्वी से लेकर सदाशिव पर्यन्त जो विश्व है, उसको योगी आत्मसात् कर लेता है । अर्थात् अपने से अभिन्न देखने लगता है । जैसे कि पूर्व गुरुओं ने स्वरचित क्रम सूत्र

में कहा है—जैसे प्रज्वलित की जाने पर अग्नि दाह्य पदार्थों को दग्ध करती है, वैसे ही विषय पाशों को प्रज्वलित चिति भक्षण कर लेती है। इस बात को प्रत्यभिज्ञाकार ने भी कहा है कि ऐसा नहीं कहना चाहिए कि विश्वमय हो जाने पर जो समावेश भूमि है, वह तो क्षणिक-अस्थायी है। अतः वह उपादेय अर्थात् ग्राह्य कैसे हो सकती है। क्योंकि देहादि के उन्मग्न अथवा निमग्न होने से अर्थात् प्रधानतया उसकी प्रतीति होने से और न होने से ही चिति का कदाचित् होना जैसा मालूम पड़ता है। वस्तुतः वह कदाचित् होने वाली नहीं है। वह तो सदा ही प्रकाशमान रहती है। वस्तुतः चिति की ही स्वतन्त्रता से प्रकाशित देहादि के उन्मज्जन से ही चिति का कदाचित्कत्व प्रतीत होता है। चिति तो सदा ही प्रकाशमान रहती है। यदि चिति सदा प्रकाशमान न रहती तो देहादि का ही प्रकाश कैसे होता। इसीलिये देहादि में जो प्रमातृताभिमान है, अर्थात् मैं देह हूँ, ऐसा जो अभिमान है, उसको हटाने के लिये ही अभ्यास है, न कि सर्वदा प्रकाशमान जो प्रमातृता है, उसके लाभ के लिये। पूर्ण प्रमातृभाव तो सदा ही प्रकाशित होता है, उसकी फिर से प्राप्ति नहीं होती है ॥

टिप्पणी—

और जब पुनः अभ्यास रूपी युक्ति द्वारा यह जीव इन्द्रियों के विकास और संकोच का सम्पादन करने के उपरान्त सृष्टि तथा संहार के क्रम का विधान करना आरम्भ करता है। तब आत्म बल के प्राप्त होने पर विश्व को आत्मसात् करती है।

आत्मबल के प्राप्त होने पर चिति विश्व को आत्मसात् करती है। देह प्राणादि के द्वारा ढके होने पर भी चिति जब अपने आत्मस्वरूप को उन्मिषित करती है, तो आत्मबल को प्राप्त करती है। जैसे कहा गया है कि तब उम आत्मबल के प्राप्त करने पर मंत्र सर्वज्ञ अथवा सर्व शक्तिमान् हो जाते हैं। इस प्रकार उस आत्मबल की प्राप्ति के होने पर पृथ्वी तत्व से लेकर शिव तत्त्व पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् को आत्मसात् करती है। जैसा कि आदि गुरुओं ने स्वरचित क्रम सूत्रों में भी कहा है।

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि जलने योग्य पदार्थों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार प्रज्वलित चिति विषय रूपी पाशों का भक्षण कर लेती है। अर्थात् ज्ञान रूपी अग्नि द्वारा विषय रूपी पाशों को दग्ध करके बन्धन मुक्त कर देती है। ऐसा कहना युक्त न होगा कि जिसने जगत् को आत्मसात् किया है, वह समावेश भूमिका—समाधि दशा—क्षणिक अथवा अस्थायी है। परन्तु यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है। क्योंकि वस्तुतः देह आदि के प्रकट और अप्रकट होने से यह समावेश

भूमिका—समाधि दशा—का कभी होना और कभी न होना जैसा भासता है अथवा चिति : के स्वातन्त्र्य द्वारा देह आदि के प्रकट होने पर इस समावेश भूमिका—समाधि दशा का कभी होना और कभी न होना प्रतीत होता है।

टिप्पणी—

वास्तव में तो यह सदा ही विद्यमान् रहती है। नहीं तो यह देहादि भी कभी प्रकाशित न होते। इसीलिये देह आदि की प्रमातृता एवं अभिमान के नाश के लिये ही अभ्यास आवश्यक हैं; न कि सर्वदा विद्यमान पूर्ण प्रमातृता के पाने के लिये, जो कि सदा प्रकाशमान ही है। श्री प्रत्यभिज्ञाकार का भी यही मत है—कि अभ्यास द्वारा जीव अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित होता है। वास्तव में उसे किसी नूतन वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। उसके अपने स्वभाव सिद्ध शिवमय स्वरूप की ही पुनः दीप्ति होती है। इससे सिद्ध होता है कि समाधि दशा सदा विद्यमान रहती है।

एवं च

चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्य-जीवन्मुक्तिः ॥१६॥

विश्वात्मसात्कारात्मनि समावेशरूपे 'चिदानन्दे लब्धे' व्युत्थानदशायां दलकल्पतया देहप्राणनीलसुखादिषु आभासमानेषु अपि, यत्समावेशसंस्कारबलात् प्रतिपादयिष्यमाणयुक्तिक्रमोपबृंहितात् चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यम् — अविचला चिदेकत्वप्रथा, सैव 'जीवन्मुक्ति'—जीवतः प्राणान् अपि धारयतो मुक्तिः; प्रत्यभिज्ञातनिजस्वरूपविद्रावितशेषपाशराशित्वात्। यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे।

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥' इति ॥१६॥

शब्दार्थ—

इस प्रकार चिदानन्द के लाभ हो जाने पर देहादि के आभास रहने पर भी चित् के साथ एकात्मता का दृढ़ ज्ञान रूप जीवन मुक्ति योगी को होती है। टीकाकार कहते हैं कि विश्वस्वरूप हो जाना जो समावेश है, वही चिदानन्द का लाभ है। उसके हो जाने पर व्युत्थान अवस्था में भी अर्थात् देह भाव में आजाने पर भी दलकल्पतया—अर्थात् अपने ही फैलाव रूप से—देह, प्राण, नील, पीत, घट, पट, सुख आदि का मान होने पर भी—जो समावेश संस्कार के बल से आगे कहे जाने वाली युक्ति के क्रम से प्रज्वलित होने वाली चित् स्वरूपता का दृढ़ निश्चय होता है, अर्थात् अविचल कभी न हठने वाला—जो चिदेकत्व का प्रकाश होता है अर्थात् "मैं शुद्ध चेतना हूँ" ऐसा दृढ़ निश्चय होता है, वही जीवन मुक्ति है. अर्थात् जीते हुए ही मुक्त रहना है। क्योंकि अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होने से अर्थात् अपने भूले हुए स्वरूप का पुनः स्मरण हो जाने से सब पाश समूह नष्ट हो जाते हैं। इस लिये योगी जीवन-मुक्त हो जाता है। यही बात स्पन्द शास्त्र में भी कही गई है—अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञान जिसको हो जाता है, वह सम्पूर्ण जगत को खेल रूप से देखता हुआ सदैव योगयुक्त रहता है और जीवन्मुक्त रहता है, इसमें कोई सशंय नही है। इति।

टिप्पणी—

चिदानन्द लाभ के प्राप्त होने पर वस्तु वर्गों में तथा देह इत्यादि में निरन्तर उस आनन्द का अनुभव होने को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं। विश्व को आत्मसात् करने वाले समावेश स्वरूप चिदानन्द के प्राप्त होने पर विश्व को आत्मा में लय करने वाली समाधि दशा की प्राप्ति होती है। इसके पश्चात् व्युत्थान काल में भी कोश (म्यान) की न्याई देह प्राण इत्यादि बाह्य और सुख दुःख इत्यादि भीतर की वस्तुओं में समावेश के संस्कार के बल द्वारा चित्त की विश्रान्ति दशा की प्राप्ति होती है; अथवा समाधि के उपरान्त भी समाधि रसका संस्कार बना रहने के कारण चित्त की स्थिरता ही जीवन मुक्ति कही जाती है; अर्थात् जीवित होते हुए और प्राणों को धारणकरते हुए भी मुक्ति होती है। पाशों का विच्छेद होने पर परमानन्द में स्थिति होना ही शिवत्व की प्राप्ति कहलाता है।।

टिप्पणी—

स्पन्दकारिका—निष्पन्द २ श्लोक-५-में कहा है कि जिस किसी योगी को इस प्रकार का ज्ञान होता है, वह स्वरूप के विकसित होने पर इस सम्पूर्ण जगत को लीलामय देखता हुआ और निरन्तर समाहित रहता हुआ निःसंदेह जीवन मुक्त है। इस दशा में समाधि रस का संस्कार रहता है, जिसके प्रभाव से सर्वदा ही मानो एक आनन्द की मस्ती बनी रहती है। व्युत्थान काल में भी पुनः-पुनः अन्तर्मुख भाव आते हैं ॥१६॥

अथ कथं चिदानन्दलाभो भवति ?—इत्याह

मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः ॥१७॥

सर्वान्तरतमत्वेन वर्तमानत्वात् तद्भित्तिलग्नतां विना च कस्यचित् अपि स्वरूपानुपपत्तेः संविदेव भगवती 'मध्यम्'। सा तु मायादशायां तथाभूतापि स्वरूपं गूहयित्वा—"प्राक् संवित्प्राणे परिणता"—इति नीत्या प्राणशक्तिभूमिं स्वीकृत्य, अवरोहक्रमेण बुद्धिदेहादिभुवम् अधिशयाना, नाडीसहस्रसरणिम् अनुसृता। तत्रापि च पलाशपर्णमध्यमशाखान्यायेन आब्रह्मरन्ध्रात् अधोवक्त्रपर्यन्तं प्राणशक्तिब्रह्माश्रयमध्यमनाडीरूपतया प्राधान्येन स्थिता; तत एव सर्ववृत्तीनाम् उदयात् तत्रैव च विश्रामात्। एवंभूतापि एषा पशूनां निमीलितस्वरूपैव स्थिता। यदा तु उक्तयुक्तिक्रमेण सर्वान्तरतमत्वे मध्यभूता संविद्भगवती विकसति, यदि वा वक्ष्यमाणक्रमेण मध्यभूता ब्रह्मनाडी विकसति, तदा 'तद्विकासात् चिदानन्दस्य', उक्तरूपस्य 'लाभः'—प्राप्तिर्भवति। ततश्च प्रागुक्ता जीवन्मुक्तिः ॥१७॥

सूत्र १७—अब इस प्रकार से चिदानन्द की प्राप्ति होती है, सो कहते हैं कि मध्यविकास से चिदानन्द का लाभ होता है। टीकाकार कहते हैं कि सबके भीतर में अनुस्यूत अर्थात् विद्यमान होने से संविद् भगवती ही मध्य है। यदि पदार्थ संविद् में लगे हुए न रहते तो पदार्थों का कोई स्वरूप ही न होता। अतः संविद् ही मध्य है। वह संविद् माया स्थिति में रहती हुई भी अपने स्वरूप को ढककर पहले प्राणरूप में परिणत होती है। फिर अवरोह क्रम से, अर्थात् नीचे उतरने के क्रम से, बुद्धि, देह आदि के रूप को ग्रहण करती हुई सहस्रों नाड़ियों में आ जाती है। वहाँ पर भी पलाश के पत्ते की न्याई, अर्थात् जैसे पत्ते के बीच में एक रीढ जैसी रेखा होती है, उसी से संलग्न अनेक महीन-महीन रेखाएँ फैली हुई रहती है, उसी प्रकार से ब्रह्मरन्ध्र से लेकर, अर्थात् शिर के मध्य स्थान से लेकर, अधोवक्त्र पर्यन्त अर्थात् गुदा पर्यन्त, प्राण शक्ति रूपी ब्रह्म का आश्रय बनी हुई मध्य नाडी के रूप में प्रधानतया रहती है। उसी से सब वृत्तियों का उदय होता है और सब वृत्तियाँ उसी मध्य नाड़ी में विश्रान्त होती हैं। इस प्रकार से रहती हुई यह चित् शक्ति पशुओं के लिये अपने रूप को ढककर ही रखती है। परन्तु उक्त युक्तियों के क्रम से संविद् भगवती विकसित होती है। अथवा आगे कहे जाने वाले क्रम से मध्य में स्थित ब्रह्मनाडी विकसित होती है। तब उसके बिकास से चिदानन्द का लाभ होता है। उससे पूर्वोक्त जीवन् मुक्ति मिलती है।

टिप्पणी :—मध्य धाम के विकसित होने से चिदानन्द का लाभ होता है। सब के भीतर व्यापक होने के कारण, अथवा विश्व में ओत प्रोत होने के कारण, वस्तुत: कुछ भी इसके अतिरिक्त है ही नहीं। केवल संविद् भगवती ही सबका माध्यम है। वही भगवती जीव दशा में मल के आवरण वश अपने स्वरूप को छिपा कर जीव का स्वाँग धारण करती है। पहले पहल संविद् भगवती प्राण रूप में परिणत होती है। इस प्रकार प्राणशक्ति की भूमिका को स्वीकार कर अवरोह क्रम के द्वारा सूक्ष्म शरीर, बुद्धि तथा देह आदि भूमियों को स्वीकार करती हुई सहस्रों नाडियो के मार्ग की अनुगामिनी बनती है। अर्थात् उनमें अनुसरण करती है। जीव दशा में भी प्रधानतया पलाश पेड़ के पत्ते की बीच वाली मध्य रेखा की न्याईं यह मध्य नाड़ी के रूप में स्थित होती है : इसी मध्य दशा अथवा मध्य नाडी से ही सब वृत्तियों का उदय होता है और सब वृत्तियां वहीं पर विश्रान्त भी हो जाती हैं। यह मध्य नाड़ी सुषुम्ना नाडी कहलाती है। इस प्रकार होने पर भी वह मध्यदशा पशुओं अर्थात् अज्ञानियों में अपने स्वरूप का गोपन कर के ही स्थित है।

टिप्पणी :—पूर्वोक्त उपाय द्वारा सबके भीतर स्थित और मध्य बनी हुई सवित् भगवती जब विकसित होती है, तब उसके विकसित होने पर उक्त चिदानन्द की प्राप्ति होती है, जिसके फलस्वरूप पूर्वोक्त जीवन मुक्ति होती है।

जीव अथवा पशु मल से आच्छन्न होने के कारण मल के आवरण वश अपना शिवत्व भूल जाता है और जीव बनकर एवं कर्तृत्व भाव ग्रहण कर शुभाशुभ कर्म फल भोग के मायिक जगत में विभिन्न लोकों और देहों में अज्ञानी बन कर भ्रमण करता है। इस भ्रमण रूप चक्र के मूल में है, उसकी आत्म विस्मृति और इस विस्मृति की जड़ में मल की आवरण शक्ति है। यह परमेश्वर की स्वेच्छा से बनी है; एवं उनकी स्वेच्छा अथवा उनके अनुग्रह के द्वारा जब इस आवरण शक्ति का उन्मूलन होता है, तब जीव शिवत्व को प्राप्त करता है। यही उसकी जीवन मुक्ति है। प्राण आदि जड़ और अपारमार्थिक है। फिर भी उन पर अनुसन्धान-चिन्तन करने से वे भी स्वरूप प्राप्ति में सहायक बन जाते हैं। यह शक्ति स्पन्द मध्यकला के नाम से प्रसिद्ध है। इसी जाग्रत प्राण शक्ति का निरन्तर मनोयोग के साथ ईक्षण-विवेचन करते-करते आवेश की प्राप्ति हो जाती है। इसी को अभ्यास कहते हैं ॥ १७ ॥

मध्यविकासे युक्तिमाह ।

विकल्पक्षय - शक्तिसंकोचविकासवाहच्छेदाद्यन्त - कोटिनिभालनादयइहोपायाः ॥१८॥

'इह' मध्यशक्ति-विकासे 'विकल्पक्षयादय' उपायाः प्रागुपदिष्टपञ्चविध-कृत्यकारित्वाद्यनुसरणेन सर्व-मध्य-भूतायाः संविदो विकासो जायते इति अभिहित-प्रायम् ।

उपायान्तरम् अपि तु उच्यते;—प्राणायाम-मुद्राबन्धादिसमस्तयन्त्रणातन्त्र-त्रोटनेन सुखोपायमेव, हृदयेनिहितचित्तः उक्तयुक्तया स्वस्थितिप्रतिबन्धकं विकल्पम् अकिंचिच्चिन्तकत्वेन प्रशमयन् अविकल्पपरामर्शेन देहाद्यकलुष-स्वचित्प्रमातृतानि-भालनप्रवणः अचिरादेव उन्मिषद्विकासां तुर्यतुर्यातीतसमावेशदशाम् आसादयति यथोक्तम्—

विकल्पहानेनैकाग्रयात्क्रमेणेश्वरतापदम् ।
इति श्री प्रत्यभिज्ञायाम् ।

श्री स्पन्देऽपि

'यदा क्षोभःप्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ।।' इति

श्री ज्ञान गर्भेऽपि—

"विहाय सकलाः क्रिया जननि मानसीः सर्वतो, विमुक्तकरणक्रियानु-सतिपारतन्त्र्योज्ज्वलम् ।

स्थितैस्त्वदनुभावतः सपदि वेद्यते सा परा, दशा नृभिरतन्द्रितासमसुखा-मृतस्यन्दिनी ।।"

इति । अयं च उपायो मूर्धन्यत्वात् प्रत्यभिज्ञायां प्रतिपादितत्वात् आदौ उक्तः । शक्ति संकोचादयस्तु यद्यपि प्रत्यभिज्ञायां न प्रतिपादिताः, तथापि आम्ना-यिकत्वात् अस्माभिः प्रसङ्गात् प्रदर्श्यन्ते; बहुषुहि प्रदर्शितेषु कश्चित् केनचित् प्रवेक्ष्यति इति ।

"शक्तेः संकोच" इन्द्रियद्वारेण प्रसरन्त्या एव आकुञ्चनक्रमेण उन्मुखी-करणम् । यथोक्तम् आथर्वणिकोपनिषत्सु कठवल्ल्यां चतुर्थवल्लीप्रथममन्त्रे ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभू—
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्
आवृत्त चक्षुरमृतत्वमश्नन् ॥

इति । प्रसृताया अपि वा कूर्माङ्ग संकोचवत् त्राससमये हृत्प्रवेशवच्च सर्वतो निवर्तनम् ॥ यथोक्तम—'तदपोद्धृते नित्योदितस्थितिः ।'

इति । 'शक्तेर्विकासः' अन्तर्निगूढाया अक्रममेव सकलकरणचक्रविस्फारणेन 'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।'

इति । भैरवीयमुद्रानुप्रवेशयुक्त्या बहिः प्रसरणम् । यथोक्तं कक्ष्यास्तोत्रे ।

'सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः
स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक् ।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तम्भभूत—
स्तिष्ठन्विश्वाधार एकोऽवभासि ॥'

इति । श्री भट्टकलल्लटेनापि उक्तम्

'रूपादिषु परिणामात् तत्सिद्धिः ।'

इति शक्तेश्च संकोचविकासौ,— नासापुटस्पन्दनक्रमोन्मिषत्सूक्ष्मप्राणशक्त्या भ्रूभेदनेन क्रमासादितोर्ध्वकुण्डलिनीपदे प्रसरविश्रान्तिदशापरिशीलनम्; अधः कुण्डलिन्यां च षष्ठवक्त्ररूपायां प्रगुणीकृत्य शक्तिं, तन्मूल-तदग्र तन्मध्यभूमिस्पर्शावेशः। यथोक्तं विज्ञानभट्टारके—

'वह्नेर्विषस्य मध्ये तु चित्तं सुखमयं क्षिपेत् ।
केवलं वायुपूर्णं वा स्मरानन्देन युज्यते ॥'

इति । अत्र वह्निः अनुप्रवेशक्रमेण संकोचभूः विषस्थानम् प्रसरयुक्त्या विकासपदम् 'विष्लृव्याप्तौ' इति अर्थानुगमात् ।

'वाहयोः'—वामदक्षिणगतयोः प्राणापानयोः 'छेदो' हृदय विश्रान्तिपुरःसरम् अन्तः ककारहकारादिप्रायानच्कवर्णोच्चारेण विच्छेदनम् । यथोक्तं ज्ञानगर्भे ।

'अनच्ककक्कृतायतिप्रसृतपार्श्वनाडीद्वयच्छिदो विधृतचेतसो हृदयपङ्कजस्योदरे ।

उदेति तव दारितान्धतमसः स विद्याङ्कुरो, य एष परमेशतां जनयितुं पशोरप्यलम् ॥ इति ॥

'आदि कोटिः' हृदयम् 'अन्तकोटिः' द्वादशान्तः; तयोः प्राणोल्लासविश्रान्त्यवसरे 'निभालनं'—चित्तनिवेशनेन परिशीलनम् । यथोक्तं विज्ञानभैरवे—

हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसंपुटमध्यगः
अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात् ॥ इति ॥ तथा
यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥
इति । आदिपदात् उन्मेशदशानिषेवणम् । यथोक्तम्—
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥
इति स्पन्दे । तथा रमणीय विषयचर्वणादयश्च संगृहीताः । यथोक्तं श्रीविज्ञानभैरवे एव
'जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात् ।
भावयेद्भरितावस्थां महानन्दामयो भवेत ॥
गीतादिविषयास्वादासमसौख्यैकतात्मनः ।
योगिनस्तन्मयत्वेन मनोरूढेस्तदात्मता ॥
यत्र तत्र मनस्तुष्टिर्मनस्त त्रैव-धारयेत् ।
यत्र तत्र परानन्दस्वरूपं संकाशते ॥
इति । एवमन्यदपि आनन्दपूर्ण स्वात्मभावनादिकम् अनुमन्तव्यम् ।
इत्येवमादयः अत्र मध्यविकासे उपायाः ॥१८॥

सूत्र १८—मध्य विकास में युक्ति या उपाय कहते हैं अर्थात् मध्यदशा के विकसित होने के लिये अब युक्ति या साधन कहते हैं । विकल्प का क्षय शक्ति संकोच विकास, बाहच्छेद, आदि कोटि और अन्त-कोटि का परिशीलन आदि, मध्य विकास में उपाय हैं । टीकाकार कहते हैं यहाँ अर्थात् मध्यविकास में विकल्प क्षय आदि उपाय हैं । पूर्व वर्णित पंचाविधकृत्यकारित्व में अनुसरण करने से सबके मध्य जो संविद् है, उसका विकास होता है । यह तो पहले ही लगभग कहा गया है । दूसरे उपाय भी कहे जाते हैं । प्राणायाम तथा मुद्रा बन्ध आदि से होने वाली यंत्रणाओं का परित्याग करने से सुख पूर्वक ही चित्त को हृदय में ठहराकर, स्वरूप में स्थित होने में बाधा बने हुए विकल्प जाल को अकिन्चित चिन्तनात्मक अभ्यास के द्वारा शान्त करता हुआ योगी अविकल्प परामर्श के द्वारा देहादि से अकलुषित देहाभिमान से रहित, जो चित्त याने चेतन प्रमातृता हैं, उसको देखने मात्र से ही, योगी शीघ्र क्रम से विकसित होती हुई तुर्या तुर्यातीत समावेश दशा को पा लेता है । जैसे कि प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि विकल्पों का नाश करने से एकाग्रता हो जाने से क्रमशः ईश्वर स्वरूपता प्राप्त होती है । श्री स्पन्द शास्त्र में कहा गया है कि जब क्षोभ याने विकल्प जाल प्रलीन होता है, तब परमपद को प्राप्त हो जाता है । श्री ज्ञानगर्भ स्तोत्र में भी कहा गया है कि हे जननिमातः, मानसिक सब क्रियाओं का त्याग करके इन्द्रियों की क्रियाओं का अनुसरण रूपी जो पारतंत्र्य है, उससे छुटकारा पा जाने से अर्थात् इन्द्रियों की अधीनता से छुटकारा पा जाने से ममुष्य आपकी कृपा से शीघ्र

ही उस उज्जवल परदशा को पा जाते हैं जिस दशा में लगातार उद्भुत सुखरूप अमृत रस टपकता रहता है ।।इति।।

टिप्पणी—

हे माता ! सब ओर से मन की क्रियाओं को त्याग कर और इन्द्रियों के व्यापार से रहित, प्रकाशमान स्थिति में आरूढ़ आलस्य रहित पुरुषों को उसी क्षण आपके अनुग्रह से परादशा की प्राप्ति होती हैं, जो परादशा अलौकिक सुख रूपी अमृत का अजस्र स्रोत प्रवाहित करने वाली है (अमृतस्पन्दिनी है)।

शब्द अर्थ—यह जो विकल्पक्षय रूप उपाय है यही सर्वश्रेष्ट तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में भी कहा गया है। सर्व प्रथम यही कहा गया है।

शक्ति संकोच आदि उपाय यद्यपि प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में नहीं कहे गए हैं, तो भी आगम शास्त्रों में कहे गए हैं, अतः प्रसंगवश मैं क्षेमराज उनका प्रतिपादन करता हूँ; क्योंकि बहुत से उपायों का प्रदर्शन किए जाने पर अपने अधिकारानुसार कोई भी किसी भी उपाय से समाविष्ट हो सकता है।

शक्ति का संकोच है इन्द्रियों के मार्ग से फैलती हुई शक्ति को अर्थात् विषयों में जाती हुई शक्ति को क्रम से आकुंचन करके अर्थात् समेट कर आत्मोन्मुख करना। जैसा कि अथर्ववेद के उपनिषद् में कठवल्ली शाखा में चतुर्थ वल्ली के प्रथम मन्त्र में भी कहा गया है कि स्वयंभू ने बाहर की ओर पाँच इन्द्रियों को खोल दिया है, जिससे जीव बाहर की ओर देखता है अपनी आन्तरआत्मा की ओर नहीं देखता। कोई धैर्यवान पुरुष नेत्रों को अथवा सब इन्द्रियों के द्वारों को बाहर से रोक कर अपनी आत्मा को देखता है और अमृत का उपभोग करता है। सब ओर फैली हुई इन्द्रियों की शक्ति को सब विषयों से संकुचित कर लेना ही शक्ति संकोच है। जैसा की कहीं कहा गया हैं कि इन्द्रियों के विषयों से शक्ति के खींच लिए जाने पर नित्य उदित, सदा प्रकाशित अपनी स्थिति अर्थात् स्वसमाधि प्राप्त होती है।

शक्ति का विकास यह है कि अन्तर्निहित अपनी शक्ति को अक्रम से ही अर्थात् एकाएक ही सब इन्द्रियों को फैला देते हुए भीतरी लक्ष्य पर ठहराते हुए और नमेष तथा उन्मेष के बिना दृष्टि को बाहर की ओर खुला रखते हुए अर्थात् पलकों की गति को छोड़कर दृष्टि को स्थिर रखते हुए भैरवीय मुद्रा में प्रविष्ट होने की युक्ति के द्वारा दृष्टि बाहर खुली रहे—यही है शक्ति का विकास। जैसा कि कक्ष्यास्तोत्र में कहा गया है कि चित्त के द्वारा अर्थात् मन के द्वारा सब इन्द्रिय शक्ति को अर्थात् देखना आदि क्रियाओं को अपने-अपने विषयों में क्रम रहित एक ही बार फैलाए हुए तथा स्वयं मध्य में स्वर्ण स्तम्भ की न्याई स्थित हो। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व का आधार बने हुए एक तुम ही ठहरे हो—ऐसा कहा है ।।इति।।

श्री कल्लट ने भी कहा है कि रूपादि विषयों में परिणत-परिवर्तित हो जाने से उसकी सिद्धि अर्थात् स्वरूप की सिद्धि होती है।

शक्ति के साथ-साथ ही संकोच और विकास ये हैं। नासिका के दोनों पोरों में स्वप्रयत्न द्वारा होने वाले स्पन्दन के क्रम से उठती हुई सूक्ष्म प्राण शक्ति के द्वारा भ्रूमध्य को भेदन करके क्रम से ऊर्ध्वकुण्डलिनी पद में प्रसर और विश्रान्त दशाओं का परिशीलन करना अर्थात् उसको अवधान दृष्टि से देखते रहना। इसी प्रकार अधः कुण्डलिनी में जो षष्ठवक्त्र कहलाती है, उसमें अर्थात् लिंग की जड़ में शक्ति को खूब बढ़ा करके उसके प्रारम्भ में अर्थात् मूल में अग्रमें अर्थात् अन्त में तथा मध्य में स्पर्ष की प्रतीती हो, यही शक्ति के एक साथ संकोच विकास है; जैसा कि विज्ञान भैरव में कहा है—वह्नि और विष के बीच में सुखमय मन को ठहराए। षष्ठवक्त्र का मूल स्थान ही वह्नि है क्योंकि वह संकोच करता है। विष का अर्थ है व्यापन-फैलाव अर्थात् षष्ठवक्त्र का अन्त। उन दोनों के बीच में मध्य नाड़ी है। उसी में मन को रखे। वह वायु सहित हो या वायु के बिना ही हो। तब कामजन्य आनन्द मिलने लगता है। टीकाकार कहते हैं कि यहाँ पर प्रवेश के क्रम से संकोच होने वाला स्थान वही है अर्थात् मूल है क्योंकि लिंग संकुचित होकर मूल में ही प्रविष्ट हो जाता है। और विष स्थान विकास स्थान है। विष्लृण्याप्तौ धातु से विष शब्द बना है जिसका अर्थ है प्रसर होना।

अब वाहच्छेद कहते हैं—वाह वाम-दाहिने-में स्थित प्राण अपान होते हैं। उनका छेदन अर्थात् हृदय में उनको स्थित करके भीतर में ही ककार हकार आदि वर्णों का अच् रहित उच्चारण करते रहना और उससे उनका विच्छेदन करना अर्थात् हृदय में ही प्राण, अपान का चलना बंद हो जाना यही वाहच्छेद होता है। जैसा कि ज्ञानगर्भ स्तोत्र में भी कहा है कि स्वररहित क के द्वारा अर्थात् इसके जप के द्वारा फैली हुई दोनों नाड़ी जिसकी कट गई है एवं हृदय कमल के भीतर रखा हुआ चित्त-मन जिसका, अतएव जिसका हृदयान्धकार कट गया है, उसको वह विधाकुंर अर्थात् ज्ञान उदित हो जाता है जो ज्ञान पशु को भी परमेश्वर बनाने में समर्थ होता है ।।इति।।

अब आद्यन्त कोटि निभालन की व्याख्या इस प्रकार है—आदि कोटि हृदयको और अन्त कोटि द्वादशान्त को कहते हैं। नाक के पोरो से निकलकर प्राण बारह अंगुल बाहर जाकर फिर लौटता है। उस लौटने के स्थान को ही अन्त कोटी कहते हैं। उन दोनों स्थानों में प्राण के उठने और शान्त होने के समय में निभालन करना अर्थात् मनोयोग पूर्वक उसको अवधान दृष्टि से देखते रहना आद्यान्त कोटि निभालन होता है। जैसा कि विज्ञान भैरव में कहा है जिसका मन हृदयाकाश में लीन है और

जो हृदय कमल के बीच में स्थित है, एवं अनन्यचित्त है जिसका—हे सुभगे पार्वती—वही परम सौभाग्य को प्राप्त करता है। और भी कहा है कि जिस किसी तरह जहाँ कहीं भी रहता हुआ द्वादशांत में मन को समाहित रखे, तब उसकी प्रतिक्षण में चित्त वृत्तियां क्षीण हो जाती है और कुछ ही दिनों में उस पुरुष में विलक्षणता आ जाती है ॥इति॥

सूत्र में आदि पद से उन्मेष दशा को देखना कहा गया है। जैसा कि स्पन्द में भी कहा गया है—एक चिन्ता के बाद जो दूसरी आती है, वह जहाँ से उत्पन्न होती है, उसीका नाम उन्मेष है, उसको स्वयं ही देखना चाहिए। इसी प्रकार आदि पद से अच्छे-अच्छे विषयों का उपभोग आदि भी लिखा गया है। जैसा कि विज्ञान भैरव में भी कहा गया है कि खाने-पीने आदि से या देखने सुनने आदि के उल्लास से जो आनन्द रस का उछाल होता है उससे अपनी पूर्णावस्था की भावना करनी चाहिये। उसके द्वारा महानन्दमय अवस्था प्राप्त होती है। सगीत आदि विषयों के आस्वादन से भी अनुपम सुखमय अद्वैत अवस्था को प्राप्त करके योगी को तन्मयता से आनन्दमयता हो जाती है क्योंकि मन अभेद में आरूढ़ हो जाता है। और भी कहा है कि जहां पर मन की तुष्टि हो, अर्थात् संतोष हो, वही वहीं पर मन को लगाए रहे, तब उसको उसी स्थान में परमानन्दस्वरूप प्रकट होने लगता है ॥इति॥ इस प्रकार से और उपाय भी यहाँ माने जाने चाहिए। जैसे कि आनन्दपूर्ण अपने आपकी भावना को बनाए रखने से भी परमानन्द स्वरूप की प्राप्ति होती है; ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार के सभी अभ्यास इस मध्यविकास के उपाय होते हैं।

टिप्पणी—

विकल्पों का क्षय अर्थात् चित्त विश्रान्ति, शक्ति का संकोच तथा विकास, स्वाभाविक प्राणायाम अर्थात् प्राण और अपान का लय करना, आदि और अन्त कोटि पर अनुसंधान अर्थात् बाह्य द्वादशान्त और अन्तर द्वादशांत पर अनुसन्धान करना ही उपाय कहे गए हैं।

टिप्पणी—

यहां मध्य शक्ति के विकसित होने पर विकल्पों का क्षय हो जाता है, यही यहां उपाय कहा गया है। पूर्व उपदिष्ट पंचकृत्यों के कर्तृत्व आदि के अनुसरण के द्वारा ही सबके मध्य में स्थित जो सुषुम्ना नाड़ी है उसी में संवित् का विकास उत्पन्न होता है यही यहां पर कहने का अभिप्राय है।

संकोच और विकास से स्थान विशेष में निरोध समझना चाहिये। चित्त विश्रान्ति के अनन्तर—उपरान्त—परमपद के साक्षात्कार की आकांक्षा होती है।

यह साक्षात्कार यद्यपि अत्यन्त दुःसाध्य—दुष्प्राप्य है, तथापि जिसका चित्त विश्रान्त हो चुका हो, उसके लिये तनिक सुसाध्य—सुगम—हो जाता है। श्री सद्गुरु की परम कृपा बिना यह चित्त विश्रान्ति अत्यन्त दुष्प्राप्य है। अन्य उपाय भी कहता है।। प्राणायाम मुद्राबन्ध आदि सब यन्त्रणाओं को तोड़ कर सहज ही सुखोपाय की प्राप्ति हो सकती है। उक्त युक्ति के अनुसार संवित् में समाहित-चित्त होकर पूर्ण स्थिति में जो विकल्प बाधक हैं, उनका शमन करके अर्थात् सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर अविकल्प के परामर्श से देह के विकार से रहित अपने चित् प्रमातृत्व के चिन्तन में निमग्न योगी उसी क्षण तुर्या यथा तुर्यातीत समाधि दशा को प्राप्त करता है। जैसा कि श्री ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कहा है—विकल्पों का क्षय होने पर और एकाग्रता के द्वारा धीरे-धीरे ईश्वर दशा की प्राप्ति होती है।।

श्री स्पन्द शास्त्र में भी इसी प्रकार कहा गया है—कि जब विकल्परूपी मानसिक क्षोभ का शमन हो जाता है, तब परमपद की प्राप्ति होती है।

श्रीज्ञान गर्भ में भी इसी तरह कहा है—हे माता ! सब ओर से मन की क्रियाओं को त्याग कर और इन्द्रियों के व्यापार से रहित प्रकाशमान स्थिति में आरूढ़, आलस्य रहित पुरुषों को उसी क्षण आपके अनुग्रह से परादशा की प्राप्ति होती है। जो परादशा अलौकिक सुख रूपी अमृत का अजस्र स्रोत प्रवाहित करने वाली—अमृत स्पन्दिनी है।।

विकल्पों का क्षय रूपी उपाय ही सर्वश्रेष्ठ तथा प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित होने के कारण सर्वप्रथम कहा गया है। शक्ति के संकोच आदि का प्रतिपादन यद्यपि प्रत्यभिज्ञा में नहीं कहा गया है, फिर भी आम्नय अर्थात् गुरु और शास्त्र द्वारा कहे हुए होने के कारण मैं क्षेमराज भी प्रसंग वश इन उपायों को कहता हूँ क्योंकि बहुत से उपाय कहने पर संभव है कि किसी न किसी उपाय द्वारा साधक मुक्त हो जावे। संकोच का अर्थ है—इन्द्रियों के द्वारों से जो शक्ति का बाह्य मुख प्रसर हो रहा है बाह्य पदार्थों के प्रति, उसी प्रसर को पुनः लौटा कर स्वरूप के सन्मुख करना। जैसा कि अथर्ववेद के उपनिषद में कठवल्ली शाखा में चतुर्थ वल्ली के प्रथम मन्त्र में कहा है—स्वयंभू ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है इसलिये सब मनुष्य बहिमुख देखते हैं, अन्तमुख आत्मावस्था को नहीं देखते। कोई विरला शक्तिपात से युक्त धीर पुरुष ही आत्मा को देखता है नेत्रों के पट बन्द करके इन्द्रियों को लय करता हुआ अमृत का पान करता है अथवा जिस प्रकार कछुआ भय के कारण अपने अंगों को समेट लेता है उसी प्रकार जो शक्ति बाह्य की ओर प्रसृत हो रही है, उसे हर ओर से समेट कर आत्मावस्था में स्थित करना ही आत्मा का साक्षात्कार करना है। जैसे कहा है कि इन्द्रियों की उस आत्मावस्था की ओर विपरीत गति होने पर नित्योदित स्थिति की प्राप्ति होती है। जब विरुद्ध शक्तियों का शमन होता है तथा

जब साधक या योगी शिव रूपी स्वात्मा की ओर अभिमुख होता है, तब उसे नित्य समाहित स्थिति की प्राप्ति होती है ॥

गुप्त रूप से स्थित संवित् पर अनुसन्धान करने से तथा इन्द्रियों के विकास द्वारा ही शक्ति का विकास होता है। अपलक दृष्टि द्वारा देखने रहने पर अन्तर्लक्ष्य होकर योगी स्वयं ही आत्मावस्था का अनुभव अपने ही भीतर करता है अथवा नेत्रों के पट खुले रहें परन्तु लक्ष्य भीतर हो तो योगियों को नित्य समाहित स्थिति की प्राप्ति होती है। इस भरवीय मुद्रा की युक्ति द्वारा ही बाह्य प्रसरण सम्भव है। कक्ष्यास्तोत्र में ऐसा कहा है कि अपनी इच्छा से मन के द्वारा सब ओर से इन्द्रियों को अपने अपने विषयों पर अर्थात अपने अपने प्रमेय पर लगा कर स्वयं को मध्य में स्वर्ण स्तम्भवत् जो देखता है वह शंकर स्वरूप ही है और विश्व का आधार है ॥

इस उपाय में इन्द्रियों के द्वारों को रोकना नहीं वरन अपने अपने विषयों पर छोड़ देना है और स्वयं अन्तर्लक्ष्य पर स्थिर रहना है जिसके द्वारा योगी जनों को नित्योदित स्थिति की प्राप्ति होती है।

श्री भट्टकल्लट ने भी इस प्रकार कहा है—रूप आदि में परिवर्तन होने से भी उस पद की प्राप्ति होती है ॥

संकोच और विकास—मध्यवाहिनी शक्ति के स्पन्दन तथा विश्रान्ति द्वारा ही सम्पन्न होता है अर्थात मध्यवाहिनी शक्ति में जब स्पन्दन उत्पन्न होता है, तब उस शक्ति को प्राण शक्ति कहते हैं। वही प्राण शक्ति नासापुट द्वारा अधो—नीचे और ऊर्ध्व—ऊपर संचारण करती है और अभ्यास के द्वारा जब यह सूक्ष्म होती जाती है, तो परा प्राण के रूप में भ्रूमध्य में इसे स्थिर करने से, भ्रूभेदन द्वारा ऊर्ध्वकुण्डलिनी के प्रसर और विश्रान्ति दशा की प्राप्ति होती है। यह अधः कुण्डलिनी स्थान षष्ठवक्त्र में स्थित है। प्राण शक्ति के घनीभूत होने पर जहां प्रवेश द्वार है उसके मध्य मूल और अग्र भूमि के स्पर्शावेश से युक्त होना ही अधः कुण्डलिनी के संकोच विकास होते हैं, जैसा कि विज्ञान भट्टारक शास्त्र में कहा है—अधः-कुण्डलिनी पद में—षष्ठवक्त्र (गुदाद्वार) या वह्नि संकोच स्थान है, और विष स्थान विकास स्थान है जो षष्ठवक्त्र का अन्त है। इन दोनों के मध्य, जो मध्य नड़ी है, उसमें मन को रखे अर्थात् चित् को सुखपूर्वक लगाना चाहिये, वह वायु सहित हो या वायु रहित हो, तब योगी को स्मरानन्द की अनुभूति होती है।

यहां वह्नि का अभिप्राय अनुप्रवेश क्रम द्वारा संकोच भूमि है। विष स्थान प्रसर से युक्त होने के कारण विकास पद का द्योतक-सूचक है। दोनों बायीं दायीं ओर स्थित प्राण और अपान की अथवा इडा और पिंगला मार्ग की गति अकस्मात कभी रुक जाती है। किसी अन्य कारण से अथवा चकित मुद्रा आदि के द्वारा। उस

समय हृदय जो विश्रान्ति का स्थल है, उसे वहां ही रोकना चाहिये, कहीं अन्यत्र नहीं जाने देना चाहिये ।।

निरन्तर (क) व (ह) आदि वर्णों का उच्चारण करने से मन की निश्चल स्थिति होती है । इसी को ज्ञान गर्भ सूत्रों में ऐसा कहा है—हे माता ! पशु दशा में भी यदि किसी का हृदयरूपी कर्णिका में मन समाहित हुआ है तथा इडा व पिंगला नाडियों में जिसकी प्राणवायु स्थिर हो गई है अथवा जिसका अन्धकार नष्ट हो गया है वह यदि स्वर अथवा अच् के बिना शब्द उच्चारण करे तो वह परमशिव दशा को ही भली भांति प्राप्त करता है ।।

प्रथम स्थान "आदि कोटि" हृदय है और बाह्य द्वादशान्त अन्तकोटि है । जो कि १२ अंगुल पर बाहर स्थित है अर्थात् नासिका के अग्र भाग से १२ अंगुल पर । इन दोनों द्वादशान्तों के मध्य में प्राण और अपान का निरन्तर उदय तथा अस्त होता रहता है । हृदय से बाह्य द्वादशान्त तक और बाह्य द्वादशान्त से हृदय तक प्राणों के क्रम के इस अवसर पर मन को दोनों सन्धि स्थानों में से किसी एक स्थान पर ही दृढता से स्थिर करने से चित्त लयीभूत हो जाता है ।

विज्ञान भैरव शास्त्र में कहा है—हे सुन्दरी (पार्वती) ! हृदय कमल की कर्णिका के मध्य में जो एकाग्रता करता है वह परम सौभाग्य को प्राप्त करता है, जिस किसी प्रकार से भी सब ओर से मन को प्रतिक्षण एकाग्र करता हुआ जो साधक उसे द्वादशान्त में स्थिर करता है, उसकी वृत्तियां क्षण प्रति क्षण क्षीण होती जाती हैं और शीघ्र ही कुछ दिनों में ही वह विलक्षण दशा को प्राप्त करता है ।। सूत्र में कहे गए आदि पद से मध्यवर्ती दशा अर्थात् उन्मेष दशा के परिशीलन की ओर संकेत किया गया है । जैसा स्पन्द शास्त्र में कहा है कि उस उन्मेष दशा को अपने अनुभव से ही जाना जा सकता है । यहां आदि पद से रमणीय विषयों के आस्वादन पर सावधान रहने आदि के अभ्यासों का भी संग्रह किया गया है । जैसा कि विज्ञान भैरव में कहा है—स्वादिष्ट पेयों के पान तथा स्वादिष्ट द्रव्यों—पदार्थों, के रसास्वादन द्वारा उल्लास रस के आनन्द से युक्त जो योगी अपने आपकी परिपूर्णता की भावना में समाहित रहता है, उसे विकास द्वारा महानन्द की अनुभूति होती है । मधुर मधुर गीत आदि विषयों का अस्वादन करने से योगी जनों को उसमें तन्मयता होने पर, आत्म दशा की प्राप्ति होती है । जहां जहां मन को संतोष मिले वहां-वहां ही मन को स्थिर करना चाहिये और उन-उन स्थानों से ही योगी को परमानन्द स्वरूप की अनुभूति होती है । इसी प्रकार दूसरे उपाय आनन्द पूर्ण स्वात्म भावना आदि मानने चाहिये । सूत्र में उक्त मध्य विकास के अन्य उपाय इसी प्रकार के हैं ।।

टिप्पणी—

इन्द्रियों को तृप्त करने वाले शब्द स्पर्श आदि जितने विषय हैं, वास्तव में उनके द्वारा आत्मदेव की ही पूजा होती है। इसे स्वाभाविक पूजा भी कहा जा सकता है। विषयानुभवजन्य आनन्द ही महानन्द के साथ मिलने पर अद्भुत परमानन्द स्वरूप अवस्था का उदय कराता है। इस अवस्था में बाहर अथवा भीतर किसी भी विषय में मन की प्रवृत्ति होने पर भी उसमें संस्कार के लिये स्थान नहीं रहता। कारण यह कि सर्वव्यापक परमेश्वर ही विषयमात्र के भीतर सर्वदा विद्यमान रहता है। उसकी सत्ता से ही विषय की सत्ता है और उसके प्रकाश द्वारा ही विषय प्रकाशित होता है। यह सब आगमों में कथित है। अथवा परमेश्वर की चैतन्य शक्ति ही सब विषयों में प्रकाशित अभिव्यक्त होती है। इस अवस्था की प्राप्ति हो जाने से विषय मात्र में भगवत् बुद्धि हो जाती है और अज्ञान की जड़ नष्ट हो जाती है ।।

मध्य धाम के विकास के लिये अथवा उस आनन्दपूर्णावस्था को प्राप्त करने के लिये पूर्वोक्त उपायों के अतिरिक्त अन्य-अन्य उपाय भी कहे हैं। मध्य धाम के विकास के द्वारा सच्चिदानन्द लाभ की प्राप्ति होती है। वह आनन्द लाभ से युक्त अवस्था परम योगी जनों की समावेश युक्त समाधि दशा ही है। उस समाधि के प्राप्त होने पर नित्योदित स्थिति की प्राप्ति होती है। इसी को नित्योदित समाधि कहते हैं ।।

मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः, स एव च परमयोगिनः समावेशसमापत्त्यादिपर्यायः समाधिः । तस्य नित्योदितत्वे युक्तिमाह—

समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयश्चिदैक्यामर्शान्नित्योदित समाधिलाभः ॥१९॥

आसादित समावेशो योगिवरो व्युत्थाने अपि समाधिरससंस्कारेण क्षीव इव सानन्दं घूर्णमानो, भावराशिं शरदभ्रलवम् इव चिद्गगन एव लीयमानं पश्यन्, भूयो भूयः अन्तर्मुखताम् एव समवलम्बमानो, निमीलनसमाधिक्रमेण चिदैक्यमेव विमृशन् व्युत्थानाभिमतावसरे अपि समाध्येकरस एव भवति । यथोक्तं क्रमसूत्रेषु ।

'क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः । तत्रादौ बाह्यात् अन्तः प्रवेशः, आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात् जायते;—इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः' ॥इति॥ अत्रायमर्थः सृष्टि—स्थिति—संहृति—संविच्चक्रात्मकं क्रमं मुद्रयति, स्वाधिष्ठितम् आत्मसात्करोति येयं तुरीया चितिशक्तिः, तया 'क्रममुद्रया;' 'अन्तरिति'—पूर्णाहन्तास्वरूपया; 'बहिर्मुख'—इति विषयेषु व्यापृतः अपि; 'समाविष्टः' साक्षात्कृतपरशक्तिस्फारः 'साधकः' परमयोगी भवति । तत्र च 'बाह्याद्' ग्रस्यमानात् विषयग्रामात् 'अन्तः' परस्यां चित्ति भूमौ, ग्रसनक्रमेणैव 'प्रवेशः'—समावेशो भवति । 'आभ्यन्तरात्' चितिशक्ति स्वरूपात् च साक्षात्कृतात् ''आवेशवशात्''—समावेशसामर्थ्यात् एव 'बाह्यस्वरूपे'—इदन्तानिर्भासे विषयग्रामे, वमनयुक्त्या 'प्रवेशः'—चिद्रसाश्यानता—प्रथनात्मा समावेशो जायते;—इति 'सबाह्याभ्यान्तरः अयं' नित्योदितसमावेशात्मा, 'मुदो'—हर्षस्य वितरणात् परमानन्द स्वरूपत्वात् पाशद्रावणात् विश्वस्य अन्तः तुरीयसत्तायां मुद्रणात् च मुद्रात्मा, क्रमः अपि सृष्ट्यादिक्रमाभासकत्वात् तत्क्रमाभासरूपत्वात् च 'क्रम'' इति अभिधीयते इति ॥१९॥

शब्दार्थ—

मध्य धाम के विकास द्वारा सच्चिदानन्द (लाभ) की प्राप्ति होती है । वह आनन्द लाभ से युक्त अवस्था परम योगी जनों की समावेशमयी समाधि दशा ही है । उस समाधि के प्राप्त होने पर नित्योदित स्थिति की प्राप्ति होती है । इसीको नित्योदित समाधि कहते हैं ।

टिप्पणी :—मध्य विकास से चिदानन्द स्वरूप का लाभ होता है। वही परम योगी का समावेश समापत्ति और समाधि है। उस समाधि के सदा प्रकाशित रहने की युक्ति कहते हैं—

सूत्र १९—समाधि के संस्कार से युक्त व्युत्थानावस्था के काल में भी उसे (योगी को) पुनः-पुनः चिद्रूपता का परामर्श होने से नित्योदित समाधि का लाभ होता है।

टीकाकार कहते हैं कि जो योगी प्रवर समावेश को पा लेता है, वह समाधि से उठने पर व्युत्थानावस्था में भी समाधि के आनन्द के संस्कार द्वारा मतवाला जैसा आनन्द सहित झूमता रहता है। वह सारे संसार को शरत्कालीन बादल के लेश की न्याईं चिदाकाश में ही लीन होता हुआ देखता-देखता पुनः-पुनः अन्तर्मुखता का ही आश्रय लेता हुआ निमीलन समाधि क्रम की चिन्मयता को ही विचारता हुआ व्युत्थान समय में भी समाधिरस से भरा रहता है। इसी बात को क्रम सूत्र में भी कहा है—कि क्रम मुद्रा में जो अन्तः स्वरूपा होती है उसके द्वारा साधक बहिर्मुख होता हुआ भी समाविष्ट ही रहता है। उस क्रम मुद्रा के प्रारम्भ में आवेश के द्वारा बाहर से अन्तः प्रवेश होता है. एवं भीतर से बाहर स्वरूप में प्रवेश होता रहता है। इस प्रकार बाहर भीतर समानरूप से क्रम मुद्रा मुद्रित होती है। टीकाकार इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इसका तात्पर्य यह है—कि तुर्या चेतना सृष्टि, स्थिति और संहार की संविदों के चक्र के रूप में ठहरे हुए क्रम का मुद्रण करती है अर्थात् अपने भीतर ठहरे हुए उस क्रम को अपनी ही अधीनता में ठहराती है। अतः जो यह तुर्याचित् शक्ति है, वही क्रम मुद्रा भी है। अतः उस क्रम मुद्रा से अन्तः अर्थात् पूर्णाहन्ता स्वरूप से बहिर्मुख, अर्थात् विषयों में प्रविष्ट रहने पर भी समाविष्ट बना हुआ, अर्थात् पर शक्ति के स्फार अर्थात् विकास को जिसने साक्षात् कर लिया है, ऐसा साधक परम योगी होता है। उस मुद्रा में बाह्य से अर्थात् ग्रस्यमान विषय समूहों से, अर्थात् विषयों को ग्रहण करने से, अन्तः अर्थात् पराचित् भूमि में ग्रसन क्रम से प्रवेश अर्थात् समावेश होता है। एवं आभ्यन्तर से अर्थात् चिति शक्ति स्वरूप से, जिसको साक्षात् कर लिया है उससे, आवेशवशात् अर्थात् समावेश के सामर्थ्य से ही बाह्यस्वरूप में, अर्थात् इदन्तया भासमान-विषय समूहों में वमन युक्ति से प्रवेश अर्थात् चिद्रस का घनीभाव भासित होने पर समावेश प्राप्त होता है। अः 'सबाह्याभ्यान्तरः अयं" अर्थात् नित्योदित समावेश स्वरूप है और मुद अर्थात् हर्ष को वितरण करने से परमानन्द स्वरूप होने से एवं पाशों को विदारण करने से संसार को भीतर से अर्थात् तुरीय सत्ता से मुद्रण करने से अर्थात् अंकित करने से मुद्रास्वरूप है, एवं उसके क्रम के आभास रूप होने से भी क्रम कहलाता है ॥इति॥

टिप्पणी :—व्युत्थान काल में भी समाधि का संस्कार बना ही रहता है। रहता है उस दशा में पुनः-पुनः चित् के साथ अपने तादात्म्य का विमर्श करने से नित्योदित समाधिदशा की प्राप्ति होती है। परम योगियों को समावेश अथवा समाधि दशा के प्राप्त होने पर व्युत्थान काल में भी समाधि रस का संस्कार रहता है, जिसके प्रभाव से सर्वदा ही एक आनन्द का नशा बना रहता है। वह नशा आनन्द की घूर्णि कहलाती है। तब प्रतीत होता है मानो जगत की अनन्त भाव राशियां शरत्काल के मेघ के तुल्य चिदाकाश में लीन हो रही हैं। व्युत्थान काल में भी पुनः-पुनः अनखर्मु भाव आते हैं। निमीलन समाधि की क्रम धारा के द्वारा चित् की एकता का विमर्श करने पर व्युत्थान के समय में भी योगी समाधि रस में मग्न होकर रहता है जैसा कि क्रम सूत्र में कहा है—क्रम मुद्रा अन्तः स्वरूपा है। इसलिये उसके बल के द्वारा बहिर्मुख अवस्था में विषयों मे संलग्न रहते हुए भी साधक को शमाविष्टता होती है, अथवा पर दशा की प्राप्ति होती है। अतः शिवत्व का लाभ होता है।

आवेश के कारण पहले बाहर से अर्थात् बाह्य विषय शशि से भीतर में अथवा परमचित् भूमि में प्रवेश करता है। पश्चात् समावेश के बल के द्वारा भीतर से बाह्य स्वरूप में प्रवेश करता है। यह बाह्य और आभ्यन्तर क्रम जो पुनः-पुनः मुद्रित होता है, इसी को क्रम मुद्रा कहते हैं। अभिप्राय यह है कि सृष्टि, स्थिति और संहारात्मक संवित् चक्र का ही क्रम रूप से ही विमर्शन होता है। तुरीया चित्शक्ति इस क्रम को मुद्रित प्रकाशित करती है। स्वाधिष्ठित रूप से आत्मसात् करती है। वास्तव में यह क्रम मुद्रा ही पूर्ण अहन्ता है।

चित्शक्ति की बाह्य रूप में अर्थात् विषयों में व्याप्ति प्रकट होती है। साक्षात्कार के पश्चात् समावेश के बल द्वारा जब शक्ति का प्रसरण होता है, तब साधक परम योगावस्था को प्राप्त करता है। उसके द्वारा विषयों का बाह्य स्वरूप ही विलुप्त हो जाता है। विषयों में केवल चित् रस की ही व्याप्ति प्रकट हो जाती है। इस प्रकार से जब समावेशयुक्त योगी बाह्य से भीतर में प्रवेश करता है और भीतर से चित्शक्ति के साक्षात्कार के उपरान्त समावेश के बल द्वारा इदंरूपी बाह्य रूप में अर्थात् विषयों में वमन के न्याय से प्रवेश कारता है, उस स्थिति में विषयों में भी चित् रस की व्याप्ति प्रकट होती है। अतः भीतर बाहर दोनों ही समान हो जाते हैं। यही नित्योदित समाधि है।

मुद्रा—इसको मुद्रा इसलिये कहते हैं क्योंकि यह मुद् अर्थात् आह्लाद प्रदान करती है अर्थात् हर्ष के वितरण के कारण परमानन्द स्वरूप की स्थिति को प्रकट करती है। यह सब पाशों से मुक्त करती है। विश्व के मध्य में तुरीया सत्ता मुद्रण क्रम द्वारा सृष्टि आदि को आभासित करती है। उसके आभासन करने को ही क्रम कहते हैं।

नोट—आवेश अथबा समावेश दोनों का एक ही अर्थ है।

इदानीम् अस्य समाधिलाभस्य फलमाह—

सदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारि निज संविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम् ॥२०॥

नित्योदिते समधौ लब्धे सति, 'प्रकाशानन्दसारा'—चिदाह्लादैकघना महती 'मन्त्रवीर्यात्मका' सर्वमन्त्रजीवितभूता 'पूर्णापराभट्टारिकारूपा या इयम् 'अहन्ता'—अकृत्रिमः स्वात्मचमत्कारः, तत्र 'आवेशात्' 'सदा' कालाग्नयादेः चरमकलापर्यन्तस्य विश्वस्ययौ 'सर्गसंहारौ'—विचित्रौ सृष्टिप्रलयौ 'तत्कारि' यत् 'निजं संविद्देवताचक्रं' 'तदैश्वर्यस्य' 'प्राप्तिः'—आसादनं 'भवति', प्राकरणिकस्य परमयोगिन इत्यर्थः; 'इति' एतत् सर्वं शिवस्वरूपमेव इति उपसंहारः—इति संगतिः।

तत्र यावत् इदं किंचित् संवेद्यते, तस्य संवेदनमेव स्वरूपं; तस्यापि अन्तर्मुखविमर्शमयाः प्रमातारः तत्त्वम्; तेषामपि विगलित देहाद्युपाधिसंकोचाभिमाना अशेषशरीरा सदाशिवेश्वरतैव सारम्; अस्या अपि प्रकाशैकसद्भावापादिताशेषविश्व चमत्कारमयः श्रीमान् महेश्वर एव परमार्थः; नहि पारमार्थिक प्रकाशावेशं विना कस्यापि प्रकाशमानता घटते—स च परमेश्वरः स्वातन्त्र्यसारत्वात् आदि-क्षान्ता-मायीय शब्दराशिपरामर्शमयत्वेनैव एतत् स्वीकृत समस्तवाच्य-वाचकमयाशेष जगदानन्द सद्भावापादनात् परं परिपूर्णत्वात् सर्वाकाङ्क्षाशून्यतया आनन्द प्रसर निर्भरः; अतएव अनुत्तराकुलस्वरूपात् अकारात् आरभ्य शक्तिस्फाररूपहकलापर्यन्तं यत् विश्वं प्रसृतं, क्षकारस्य प्रसरशमनरूपत्वात्; तत् अकार-हकाराभ्यामेव संपुटीकार-युक्तया प्रत्याहारन्यायेन अन्तः स्वीकृतं सत् अविभागवेदनात्मकबिन्दुरूपतया स्फुरितम् अनुत्तर एव विश्राम्यति—इति शब्द राशिस्वरूप एव अयम् अकृतको विमर्शः। यथोक्तं—

प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहं-भावोहि कीर्तितः।
उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः॥
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च।

इति। एषैव च अहन्ता सर्वमन्त्राणाम् उदयविश्रान्तिस्थानत्वात् एतद्बलेनैव च तत्तदर्थ क्रियाकारित्वात् महतीवीर्यभूमिः। तदुक्तम्—'तदाक्रम्य बलमन्त्रा······।' इत्यादि "······त एते शिवधर्मिणः" ॥ इत्यन्तम् श्रीस्पन्दे शिव सूत्रेषु अपि—

महाह्लदानुसंधानान्मन्त्रवीर्यानुभवः। (१ उ० २२ सू०) इति। तदत्र महा

मन्त्रवीर्यात्मिकायां पूर्णाहन्तायाम् 'आवेशो'—देहप्राणादिनिमज्जनात् तत्पदावाप्त्य-वष्टम्भेन देहादीनां नीलादीनामपि तद्रसाप्लावनेन तन्मयीकरणम्। तथा हि—देहसुख-नीलादि यत् किंचित् प्रथते, अध्यवसीयते, स्मर्यते, संकल्प्यते वा, तत्र सर्वत्रैव भगवती चित्तिशक्तिमयी प्रथा भित्तिभूतैव स्फुरति; तदस्फुरणे कस्यापि अस्फुरणात् इति उक्तत्वात्। केवलं तथा स्फुरन्त्यपि सा तन्मायाशक्त्या अवभासित-देहनीलाद्युपराग-दत्ताभिमानवशात् भिन्नभिन्नस्वभावा इव भान्ती ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिरूपतया मायाप्रमातृभिः अभिमन्यते। वस्तुतस्तु एकैव असौ चितिशक्तिः॥ यथोक्तम्

'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥' इति—तथा
'मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।
कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः॥'

इति। एवम् एषा सर्वदशासु एकैव चितिशक्तिः विजृम्भमाणा यदि तदनु-प्रवेश-तदवष्टम्भयुक्त्या समासाद्यते, तत् तदवेशात् पूर्वोक्त युक्त्या करणोन्मीलन निमीलनक्रमेण सर्वस्य सर्वमयत्वात् तत्तत्संहारदौ अपि 'सदा सर्वसर्गसंहारकारि' यत् 'सहजसंवित्तिदेवताचक्रम्'—अमायीयान्तर्बहिष्करणमरीचिपुञ्जः, तत्र 'ईश्वरता'—साम्राज्यं परभैरवात्मता, तत्प्राप्तिः भवति परमयोगिनः। यथोक्तम्

'यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ।
नियच्छन्भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरोभवेत्॥'

इति। अत्र एकत्र इति स्पन्दकारिका
एकत्रारोपयेत्सर्वम्………। नि. III श्लो-१२

इति। चित्सामान्यस्पन्दभूः उन्मेषात्मा व्याख्यातव्या। तस्य इति अनेन—'पुर्यष्टकेन संरुद्ध………'इति उपक्रान्तं पुर्यष्टकम् एव परामृष्टव्यम्; न तु तथा विवरणकृतः 'एकत्र सूक्ष्मे स्थूले शरीरे वा' इति व्याकुलवन्तः। स्तुतंचमया

'स्वतन्त्रश्चितिचक्राणां चक्रवर्ती महेश्वरः।
संवित्तिदेवता चक्रजुष्टः कोऽपि जयत्यसौ॥'

इति। इतिशब्द उपसंहारे, यत् एतावत् उक्तप्रकरणशरीरं तत् सर्वं 'शिवम्—शिवप्राप्ति हेतुत्वात्' शिवात् प्रसृतत्वात् शिवस्वरूपाभिन्नत्वात् च शिवमयमेव इति शिवम्॥

देहप्राण सुखादिभिः प्रतिकलं संरुध्यमानो जनः
पूर्णानन्दघनामिमां न चिनुते माहेश्वरीं स्वां चितिम्।
मध्येबोधसुधाब्धि-विश्वमभितस्तत्फेनपिण्डोपमं
यः पश्येदुपदेशतस्तु कथितः साक्षात्स एकः शिवः॥

येषां वृत्तः शांकरः शक्तिपातो
येऽनभ्यासात्तीक्ष्णयुक्तिष्वयोग्याः ।
शक्ता ज्ञातुं नेश्वर प्रत्यभिज्ञा—
मुक्तस्तेषामेष तत्त्वोपदेशः ॥

समाप्तमिदं प्रत्यभिज्ञाहृदयम्

कृतिस्तत्रभवन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तपादपद्मोपजीविनः श्रीमतो राजानक्षेमराजाचार्यस्य ॥

शुभमस्तु ॥

शब्दार्थ—

अब इस समाधि लाभ का फल कहा है :—

सूत्र २०—

प्रकाश आनन्द सार वाली जो महामन्त्र वीर्य स्वरूपा परिपूर्ण अहन्ता है, उसके अवेश से (योगी को) समस्त सृष्टि-संहार करने वाली अपनी संविद्-देवियों के चक्र पर प्रभुत्व की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार से यह सब शिव है।

नित्योदित समाधि के लाभ से प्रकाशानन्द सार, सब मन्त्रों का प्राण बनी हुई, पूर्ण पराभट्टारिका रूपा जो यह अकृत्रिम अहन्ता है, उसमें आवेश से कालाग्नि से लेकर अन्तिम कला पर्यन्त जो सृष्टि और संहार अर्थात् विचित्र सृष्टि, प्रलय आदि हैं, उन्हें करने वाला जो अपना संविद् देवता चक्र है, योगी उसका स्वामित्व पाकर स्थित हो जाता है ॥ इति शिवम् ॥ यह सब कुछ जो कहा गया है वह शिव स्वरूप ही है यह उपसंहार अर्थात् समाप्ति का द्योतक है।

अब यहां पर टीकाकार इस बात को विस्तार से समझाते हैं—कि जो कुछ समझा जा रहा है. वह सब संवेदन अर्थात् संवित्ति स्वरूप ही है। उसका भी तत्त्व अर्थात् सार अन्तर्मुख विमर्शमय प्रमाता ही हैं। प्रमाताओं का भी सार देहादि रूप की उपाधि से रहित समस्त शरीर रूपिणी सदा-शिवेश्वरता है। उसका भी परम तत्व सम्पूर्ण विश्व चमत्कार को अपनी अद्वैत प्रकाशमयता से प्रकट करने वाला श्रीमान् महेश्वर ही है। क्योंकि परम तत्व रूपी प्रकाश के आवेश के बिना किसी का प्रकाशित होना ही नहीं बनता है। वह प्रकाशमय परमेश्वर स्वातन्त्र्य की प्रधानता के कारण अ से लेकर क्ष तक जो अमायीय शब्द समूह है, उसको परामर्श

द्वारा स्वीकार करता है। इसके स्वीकार करने से वह अखिल वाच्य वाचकमय सम्पूर्ण जगत को अपने में धारण करने के कारण से परिपूर्ण रूप है। सब आकांक्षाओं से रहित होने के कारण आनन्द के उछाल से पूर्ण है। इसलिये अनुत्तर जो अकुल स्वरूप अकार है वहां से लेकर शक्ति के विस्तार रूप 'ह' कला तक जो विश्व फैला है वही क्ष वर्ण के प्रसार के पर्यवसान स्वरूप होने के कारण वह विस्तृत विश्व अ और ह से सम्पुटित होकर, प्रत्याहार न्याय से उस अनुत्तर के ही भीतर रहता हुआ, अविभक्तता का ज्ञान ही जिसका स्वरूप है, इस प्रकार के बिन्दु रूप से स्फुरित होता हुआ अनुत्तर में ही विश्रान्त रहता है। जैसा कि कहा है, कि प्रकाश का जो अपने में विश्रान्त रहना है, अर्थात् अपने परम स्वरूप का ही विमर्श करना है, वही अहंभाव है और वही अहं सब अपेक्षाओं के उच्छेद से विश्रान्ति कहलाता है। यही स्वातन्त्र्य मुख्य कर्तृत्व एवं ईश्वर रूपता कहलाता है।

यह अहंता ही सब मन्त्रों का उदय एवं विश्रान्ति स्थान होने के कारण तथा इसी के कारण समस्त प्रयोजनों की सिद्धि होने के कारण महती वीर्य भूमि कहलाती है। जैसा कि स्पन्द निर्णय में कहा है—तदा क्रम्य बलं मन्त्रा इत्यादि—अर्थात् इसी अहन्ता के बल को लेकर मन्त्र बलशाली बन जाते हैं, 'ये सब शिवस्वरूप ही हैं" यहाँ तक शिव सूत्र के अनुसार पूर्णाहन्ता रूप महासरोवर में अनुसन्धानात्मक निमज्जन करने से समस्त मन्त्रों के मुख्य वीर्य का अनुभव होता है। महामन्त्र वीर्य में अर्थात् पूर्णाहन्ता में अवेश से, देह प्राणादि को डुबाकर और गौण करके पूर्णाहन्ता के दृढ़तापूर्वक आलिंगन से देहादि को एव नीलादि विषयों को पूर्णाहन्ता रसमय पाक से पूर्णाहन्ता मय कर लेना, पूर्णाहन्तामय ही सब कुछ अनुभव करना। इसी बात को तथाहि द्वारा दिखलाते हैं—कि देह सुख नीलादि विषय जो कुछ भी ज्ञात हो रहा है, निश्चित हो रहा है, स्मृत हो रहा है, या संकल्प में आ रहा है, उन सब जगहों में भगवती चित्शक्ति ही प्रकाश भित्तिरूपेण प्रकाशित हो रही है। यदि चित्शक्ति का प्रकाश न होता तो कोई वस्तु भी प्रकाशित नहीं हो सकती—यह पूर्व वर्णित है। केवल एक बात है कि प्रधान रूप से चित्शक्ति के प्रकाशित होने पर भी उसी की माया शक्ति के द्वारा प्रकाशित जो देह, नील, स्थान पीतादि हैं, उनकी छाया पड़ने के कारण होने वाले अभिमान के प्रभाव से वही चित्शक्ति भिन्न स्वभाव वाली जैसी भासित होकर ज्ञान, संकल्प, निश्चय, विकल्प आदि रूपसे माया प्रमाताओं के द्वारा अभिमत होती रहती है। यथार्थ तो सब जगह वह केवल अकेली चित्शक्ति मात्र ही है। जैसा कि ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ग्रंथ में कहा है—तत् तत् पदार्थ क्रम से रंगी हुई जो प्रतिभा है, वह अक्रम, (क्रम रहित) अनन्त, चिद्रूप प्रमाता ही महेश्वर है। और उसी पूर्वस्वतन्त्र प्रभु की माया शक्ति के प्रभाव से जब वही चित्शक्ति

अपने से भिन्न प्रमेय को अपना विषय बना लेती है तो ज्ञान, संकल्प, निश्चय आदि नाम उसी के पड़ जाते हैं। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है यदि यह प्रत्यक्ष विषयी-भूत चित् शक्ति ही जो सब दशाओं में प्रसृत होती रहती हैं, उसी के भीतर प्रवेश करने की युक्ति से या उसी को पकड़ कर रखने की युक्ति से प्राप्त की जाए तो तब उसी के प्रभाव से यूर्वोक्त रीति से इन्द्रियों के उन्मीलन और निमीलन के क्रम से और सब पदार्थों के सर्वमय विश्वमय होने के कारण उस पदार्थ के संहार आदि में भी सदा सर्व सर्ग संहारकारी जो सहज संविति देवता चक्र है अर्थात् जो सदा सृष्टि, स्थिति, संहार करने वाले अमायीय अन्त:करण बहिष्करण का किरण पुँज है, उसमें स्वामित्व अर्थात् परम भैरवात्मकता की प्राप्ति योगी को हो जाती है।

स्पन्दकारिका में भी कहा है—जब सारी इन्द्रियाँ एक स्थान पर ही अर्थात् चित् शक्ति में ही स्थित हो जाए अथवा यह मालूम हो जाए, तब उन शक्तियों के उद्भव और लय को अपनी इच्छा से करता हुआ योगी वास्तविक भोक्तता को पा लेता हैं और शक्ति चक्र का स्वामी बन जाता है ।। इति ।।

इस श्लोक में जो एकत्र शब्द है, उसका अर्थ चित् सामान्य की स्पन्द भूमि समझना चाहिये। इसी को उन्मेष भी कहा गया हैं; क्योंकि स्पन्द शास्त्र में ही कहा गया है कि "समस्त विश्व को एक ही तत्त्व पर आरोपित करे।" श्लोक में जो तस्य शब्द है, उससे पूर्वोक्त श्लोक में 'पुर्यष्टकेन संरुद्ध:' इसमें कहा गया पुर्यष्टक ही लेना चाहिये। पुर्यष्टक सूक्ष्म शरीर को कहते हैं। न कि जैसी विवरणकार ने 'एकत्र' की व्याख्या की है—कि 'सूक्ष्म शरीर या स्थूल शरीर' सो नहीं ग्रहण करना चाहिये। मैंने भी स्तुति में कहा है कि चिति के अर्थात् संवित् समूहों का चक्र-वर्ती राजा-संवित्ति देबियों के समूह से सेवित वह कोई विलक्षण अनिर्वचनीय-सर्वोत्कर्षेण जयशील है इति।

अंतिम सूत्र के अंत में 'इति' शब्द का अर्थ है कि प्रारम्भ किया हुआ शास्त्र समाप्त हो गया है और शिवम् शब्द का अर्थ है कि जो कुछ इस प्रकरण में कहा गया है, वह सब कुछ शिव ही है क्योंकि उससे शिवत्व की प्राप्ति हो सकती है और शिव से ही प्रसृत हुआ है, तथा शिव स्वरूप से अभिन्न होने के कारण शिवमय ही है इस-लिये शिव ही हैं इति।

सांसारिक जन प्रतिक्षण देह प्राणदि तथा सुख आदि से घिरे रहने के कारण अथवा निरुद्ध हुए होने के कारण इस महेश्वर सम्बन्धी पूर्णानन्दघन अपनी चिति को नहीं समझते हैं। इसलिये उसे ग्रहण नहीं करते हैं। परन्तु जो योगी गुरु के उपदेश से बोध-सुधा-समुद्र के मध्य में इस चित्ति को देखते हैं और उसके चारो ओर फेन पिण्ड के समान विश्व को देखते हैं वह साक्षांत शिव ही हैं; ऐसा इस शास्त्र का व्याख्यान है। जिनको भगवान शंकर का शक्तिपात् हो चुका है, किन्तु अभ्यास

न करने से जो सूक्ष्म युक्तियों को जानने में असमर्थ है, अतः ईश्वर प्रत्यभिज्ञा को नहीं समझ सकते, उन्हीं के लिये इस प्रत्यभिज्ञा हृदय के द्वारा तत्त्वका उपदेश—स्वात्म महेश्वरता का उपदेश—किया गया है ।। इति ।।

अब इस समाधिलाभ का फल कहा है—

टिप्पणी—

तब चिदानन्दैकघन महामन्त्रवीर्यस्वरूप पूर्णअहन्ता को ग्रहण करके निज आवेश—प्रकाश और विमर्श जिसका सार है—उसको प्राप्त करता है। तत्पश्चात् सृष्टि और संहार क्रम के द्वारा अपनी शक्तियों के चक्रों के ऊपर शासन करता है। यह सब शिव का ही स्वभाव है। नित्योदित समाधि के प्राप्त होने पर—विमर्श ही जिसका स्वरूप है—चिदानन्द के घनीभूत होने पर—सर्व मन्त्रों की जीवन बनी हुई अर्थात् पश्यन्ती, मध्यमा तथा भैरवी रूपा पूर्ण पराभट्टारिका रूपा अहन्ता अर्थात् वास्तविक—यथार्थ—आत्मचमत्कार में प्रविष्ट होने पर सदैव कालाग्नि रुद्र से लेकर शान्तात्तीता कला पर्यन्त खेचरी, गोचरी, दिकचरी और भूचरी—इन चार शक्ति चक्रों में परिस्फुटित होकर सृष्टि और संहार क्रम को मुद्रित करती हैं उन शक्ति चक्रों के ऊपर परम योगी जन शासन करते हैं।

जो प्रकरण चल रहा है उसमें यही बात कही गई है और उसका सारांश यही है कि यह अखिल जगत सब शिवमय ही है जो कुछ भी प्रमाण और प्रमेय वर्ग हैं वह सब कुछ अन्तर्मुख विमर्शमय प्रमाता का ही स्वरूप हे। इन प्रमाताओं में सदाशिव-ईश्वरता ही सार तत्त्व है, जिनमें सीमित देहादि लय हो गए हैं। सदाशिव ईश्वरता में सर्वोत्कृष्ट सत्यता यह है कि वह ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् स्वयं ही हैं, जो कि चमत्कार अर्थात् विमर्श से युक्त होने पर सम्पूर्ण जगत्-रूप एक परम शिव ही कहे जाते हैं। प्रकाश के बिना कुछ भी प्रकाशित नहीं हो सकता है। वे स्वतंत्र रूप परमेश्वर ही अ से लेकर ह अक्षर पर्यंन्त विश्वरूप में फैला हुआ है। अ वर्ण प्रकाश का स्वरूप है और ह वर्ण विमर्श का स्वरूप है। शिव ही "अ" है और शक्ति का प्रसार ही "ह" है अनुत्तर रूप परम शिवात्मक अकार से शक्ति का स्फुरण आरम्भ होता है और हकार प्रर्यन्त सृष्टि प्रसृत होती है। अकार और हकार संपुटाकार युक्त हैं। जिस विमर्श—शक्ति में निखिल प्रपंचविलीन रहता है, उसके संसर्ग से अनुत्तर अक्षर स्वरूप प्रकाश बिन्दु रूप धारण करता है।

जैसा कि कहा गया है—इदम् भाव का अहम् भाव में लीन होना आत्म-विश्रान्ति कहलाता है। यह आत्म विश्रान्तिही सर्व अपेक्षाओं का शमन करती है। पूर्ण अहम् स्वातन्त्र्य रूप, कर्तृत्व भाव से परिपूर्ण, उत्कृष्ट ईश्वर भाव से सम्पन्न कहा गया है। वह आत्मविश्रान्ति ही पूर्ण अहन्ता है, और सब मन्त्रों का उदय स्थल

और विश्रान्ति स्थल है। इसके बल द्वारा ही सब अपना कार्य सिद्ध करते हैं। यह सब की उत्पत्ति का स्थान है ॥

जितने मन्त्र हैं इसके बल द्वारा ही अपनी-अपनी शक्ति दर्शाते हैं। यही बात स्पन्द शास्त्र में कही है—सब मन्त्र शिव रूप ही हैं। महान संवित् रूपी सरोवर में गोता-डुबकी—लगाने से ही मन्त्रशक्ति का अनुभव हो सकता है।

शिव सूत्र में भी कहा है—महाह्लाद के अनुसंधान से मन्त्र वीर्य की अनुभूति होती है। इस प्रकार महान् मन्त्र वीर्यादि रूप पूर्णाहन्ता में प्रवेश और कुछ नहीं, केवल देह प्राणादि से अभिमान को हटाना है। अतः संवित्स्वरूप की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण प्रमाता तथा प्रमेय वर्गों में संवित् रूपी रस व्याप्त हो जाता है। देह, सुख, नील आदि जितने भी वस्तु वर्ग भासते हैं, ज्ञान शक्ति के द्वारा, तथा बुद्धि के द्वारा निश्चय करना चाहिये कि इन सबमें चित् शक्ति ही अनुस्यूत है, यह सब उसी की लीला मात्र है, सब बस्तु वर्गों के स्फुरित होने की वही आधार है, उसके स्फुरण के बिना कुछ भी स्फुरित नहीं हो सकता, उनमीलन और निमीलन के क्रम द्वारा अर्थात् क्रममुद्रा द्वारा ३६ वत्व उसी का रूप भासते हैं।

सब पदार्थों का संहार होने पर करणेश्वरी देवियों द्वारा जो सदा सृष्टि और संहार क्रम चल रहा है। अन्तःकरण, बहिष्करण आदि सब इस चित् शक्ति का ही प्रसार है। क्रम मुद्रा में निरत योगी को अहम् स्वरूप की प्राप्ति होती है॥ जैसे कि कहा है—जब कोई एक ही तत्त्व पर आरूढ़ हो जावे, अर्थात एक ही संवित्तत्व पर किसी का चित्त आरूढ़ हो जावे, अतः इस देहादि में ही जिसे उद्भव और लय पर पूरा नियन्त्र हो जाए, तब वह एक स्वतंत्र भोक्ता बन जाता है और करणेश्वरी देवियों का स्वामी बन जाता है : यहां "एकत्र" शब्द का अभिप्राय है—सब कुछ एक ही स्थान-चित् शक्ति—पर एकत्रित करना चाहिए॥ उन्मेष स्वरूप हो जाने पर सामान्य चित् पर सब चढ़ना चाहिये अर्थात् किसी एक स्थान विशेष पर निरोध समझना चाहिए।

उपरोक्त श्लोक में 'तस्य' शब्द का अभिप्राय "पुर्यष्टक"—सूक्षम शरीर है। वह जो कि एक स्वतंत्र शासक बन गया है और चित्ति चक्रों पर जो शासन करता है, अर्थात् जो अपनी इन्द्रियों के बशीभूत नहीं है, वह चक्रवर्ती महेश्वर स्वरूप ही है। अपनी शक्तियों द्वारा वह सेवित है। ऐसा कोई विरला ही है जिसकी जय हो! "इति" शब्द का अर्थ है—उपसंहार। अभी तक जो कुछ इस ग्रंथ में कहा है, अर्थात् इस ग्रंथ का जो शरीर है वह शिव ही है, क्योंकि वह शिव प्राप्ति का हेतु है।

वह शिव रूप ही है, क्योंकि वह शिव से ही प्रसृत हुआ है। वह शिव—से अभिन्न है, अतः वह शिवमय ही है ॥

संसारी जीव, अर्थात् माया प्रमाता, देह, प्राण सुख, दुःख आदि द्वारा बधन में बन्धे हुए हैं। अपनी संवित् को जो कि पूर्ण और आनन्दघन स्वरूप है, उसको जीव पहचानता नहीं ज्ञानरूपी समुद्र में जो प्रतिष्ठित हैं, गुरूओं के उपदेशों द्वारा जो इस बात को जानते हैं कि समस्त विश्व संवित् समुद्र के भीतर उसके फेन पिंड के सहित संवित् स्वरूप ही है। वे साक्षात् शिव स्वरूप ही हैं। यह उपदेश उनके हितार्थ कहा गया है, जिन्हें शिव का शक्तिपात हुआ है, परन्तु जो तीक्ष्ण तर्क शास्त्र का युक्ति के योग्य नहीं, तथा ईश्वर प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को भी समझने में असमर्थ हैं ॥

यह प्रत्यभिज्ञा हृदय समाप्त हुआ ॥

यह कृति महामाहेश्वराचार्य श्रीमान अभिनवगुप्त के चरण सेवक, शिष्य श्रीमान् राजानक क्षेम राज की है।

शुभ हो

पारिभाषिक पदानुक्रमणी

अ—"अ" वर्ण द्वारा अनुत्तर को ही लक्ष्य किया गया है, यह शिव का सूचक है।

अकुल—जो विश्वपिता शिव है वही अकुल है।

अख्याति—अपना अज्ञात।

अधावक्र—अथवा मेद्रकण्ड जो कि मलाशय के मूल के पास होता है, यह मूलाधार से भी नीचे है।

अणु—जब यह आत्मा कार्ममल, आणवमल, और मायीय मल के द्वारा ढक जाता है और अपना शिवस्वरूप अर्थात् सार्वभौमिक चेतनता को भूलकर जीवात्मा के रूप में अपने आप को अनुभव करता है तब उसे अणु कहते हैं।

अध:कुण्डलिनी—कुण्डलिनी जब लम्बिका से नीचे की ओर मूलाधार की ओर जाती है अथवा प्राणों की गति लम्बिका से मूलाधार की ओर जाती है। इसे ही अध:कुण्डलिनी कहा गया है।

अनाख्य—वह शब्द जो बोले ना जा सके अर्थात् स्वरों के बिना शब्द किसी मन्त्र को उस स्थान से पकड़ना जहां से उच्चारण न किया जा सके।

अनन्त भट्टारक—शुद्ध विद्या तत्त्व में अनन्त भट्टारक नाम के देवता अधिष्ठितृत हैं और यह मन्त्र वर्ग प्रमाताओं के अधिष्ठाता हैं।

अनाश्रित शिव—अर्थात् शून्यातिशून्य इस दशा में इस ज्ञान का अभाव हो जाता है कि मैं ही शिव हूँ। यह दशा शक्ति से नीचे और सदाशिव दशा से ऊपर है। इस दशा को प्राप्त होने के उपरान्त ही परम शिव भिन्न-भिन्न रूपों और आकारों में प्रकट होता है। शक्तिहीन शिव ही अनाश्रित शिव के नाम से प्रसिद्ध है, अतः यह विश्वोतीर्ण दशा है।

अनुग्रह—यह परम शिव का पांचवा कृत्य है भगवान् अपनी स्वतंत्र शक्ति द्वारा जब जीव पर कृपा करते हैं, तो वह इसके द्वारा ही परम लक्ष्य पर पहुँचने का अधिकारी होता है, शक्ति-पात भी इसे ही कहते हैं।

अनुत्तर—यह वह परम तत्व है जिससे परे कुछ भी नहीं।

अन्तकोटि—द्वादशान्त—नाक के पोरो से निकल कर प्राण बारह अंगुल बाहर जा कर फिर लौटते हैं। उसी लौटने के स्थान को ही अन्तकोटि कहते हैं।

आनन्दशक्ति—आनन्द शक्ति ही स्वातन्त्र्य रूप:शक्ति है, यही ह्लादिनी शक्ति है।

आणवमल—अणु भाव से सम्बन्धित मल जो कि जीव की सार्वभौमिक चेतन्ता को सीमित करता है और जो कि अल्पज्ञता को उत्पन्न करता है।

अभासन—सृष्टि।

अमाया—माया से रहित।

अमाकला—षोडशकल पुरुष में अमृतकला एक है। यही वास्तविक अमाकला है, बाकी १५ कलाएँ काल स्पृष्ट हैं, यह षोडशी कला काल राज्य से बाहर है।

अहम् ज्ञान—अहम् ज्ञान ही शिव का स्वरूप ज्ञान है।

अशुद्ध अध्वा—माया प्राकृत जगत अशुद्ध अध्वा का उपादान है। माया तत्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जितने तत्व हैं वह अशुद्ध अध्वा के अन्तर्गत हैं।

अर्हत्—जैन।

अलंग्रास युक्ति—यदि संहार के समय जीव भीतर से कुछ वचित्र शंकाओं से प्रभावित होता है, तो मल के आवरण वश पुनः उत्पन्न होने वाले संसार रूपी बीज से युक्त निग्रह अथवा पिधान दशा को प्राप्त होता है। इसके विपरीत जब उस उत्पन्न हुई वस्तु को अलंग्रास की युक्ति से चित्त अग्नि से दग्ध किया जावे, तो अनुग्रह से युक्त योगी को अवरण के हट जाने पर पूर्णता का लाभ होता है।

अहंता—प्रकाश की आत्म स्वरूप में जो विश्रान्ति है, उसी का नाम अहंता है। आत्मशक्ति का दर्शन, एवं आत्म स्वरूप की उपलब्धि और आस्वादन एक ही वस्तु है। यही पूर्णाहन्ता चमत्कार अथवा सच्चिदानन्द की घनीभूत अभिव्यक्ति है।

अहमभाव—अहम् ज्ञान ही शिव का स्वरूप ज्ञान है। वही अहम् भाव है।

अवरोह पद—माया प्रमातृ अवस्था।

आदिकोटि—हृदय को कहते हैं।

ईश्वरतत्व—इस भूमिका में अहन्ता और इदन्ता का समानाधिकरण्य ही प्रकट होता है। यहां के प्रमातृवर्ग को मन्त्रेश्वर कहते हैं. जिनके अधिष्ठाता हैं ईश्वर भट्टारक।

ईश्वर भट्टारक—ईश्वर तत्त्व में ईश्वर भट्टारक नाम के स्वामी का ही समराज्य है।

उन्मीलन—पूर्व से ही विद्यमान वस्तु को पुनः प्रकट करना।

उनमीलन समाधि—नेत्र पट खुले रहने पर भी समाधिस्त रहता है। निमीलन समाधि के उपरान्त ही उनमीलन समाधि की दशा प्राप्त होती है, व्युथान के समय भी समाधि रस में मग्न रहता है। बीहर्मुख अवस्था में भी विषयों में व्यप्ति रहते समय भी पराशक्ति के स्फुरण का साक्षात्कार होता है।

उन्मेष—एक चिन्ता के बाद, जहां से दूसरी चिन्ता उदय होती है, उसे ही उन्मेष कहते हैं। आँखों का खोलना, अन्तर्मुख भाव के उपरान्त जब बाह्य जगत में प्रवेश करता है उसे ही उन्मेष कहते हैं। बहिर्मुख अवस्था में भी विषयों में व्याप्ति रहते समय भी पराशक्ति के स्फुरण का साक्षात्कार होता है। उन्मेष दशा को अपने अनुभव से ही जाना जा सकता है।

ऊर्ध्व कुण्डलिनी—कुण्डलिनी की ऊर्ध्व (ऊपर) की ओर गति, कुण्डलिनी का उत्थान, जब प्राण और अपाण सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। अर्थात् कुण्डलिनी मूलाधार से उठकर सुषम्ना में प्रवेश करती हुई ऊर्ध्व गति करती है, इसे ही ऊर्ध्वकुण्डलिनी के नाम से कहा जाता है।

कञ्चुक—शक्ति को परिच्छिन्न बनाने वाले आवरण ही पांच कञ्चुक हैं, जिनके नाम कला, विद्या, राग, काल और नियति हैं।

काल—समय, नित्यत्व को संकुचित करने वाला तत्व "काल" कहलाता है, जिसके कारण देहादिकों से सम्बद्ध होकर जीव अपने को अनित्य मानने लगता है।

कला—जीव के सर्वकर्तृत्व शक्ति को संकुचित करने वाला तत्व कला है जिसके कारण जीव किञ्चित-कर्तृत्व शक्ति युक्त बनता है।

कार्ममल—पुण्य पाप की वासना से जिस मल का उद्भव होता है वह कार्ममल कहलाता है।

अकुला—कुला का अर्थ शक्ति है, इसे ही महाशक्ति अर्थात् पराशक्ति कहते है।

कालाग्नि—कालाग्नि नामक एक रुद्र हैं।

क्रममुद्रा—समाधि के उपरान्त एक दशा आती है जिसे नित्योदित समाधि कहते हैं। व्युत्थान काल में भी समाधि रस से भरपूर रहता है, सर्वदा ही आनन्द के नशे से भरा रहता है। बहिर्मुख अवस्था में भी विषयों में व्याप्ति रहते समय भी परा शक्ति के स्फुरण का साक्षात्कार होता है। इसमें प्रारम्भ में

पहले बाहर से अन्तः प्रवेश होता है फिर अवेश के द्वारा भीतर से बाह्य स्वरूप में प्रवेश होता है। इस प्रकार पुनः पुनः बाह्याभ्यन्तर क्रम चलता रहता है। बाह्य और अभ्यान्तर दोनों में समविष्टता बनी रहती है। इसे ही क्रम मुद्रा कहते हैं। यही पूर्ण अहन्ता का स्वरूप है।

खेचरी चक्र—शिव, पशु भूमि में अल्प सामर्थ वाले खेचरी चक्र के द्वारा आक्रान्त होकर भेद दशा को प्राप्त होता है।

गोचरी चक्र—गोचरी शक्ति का स्वभाव है—अन्तःकरण। इसके द्वारा आत्मा का अभेद-अविकल्पमय पारमार्थिक स्वरूप, अन्तर्धान हो जाता है।

ग्राहक—जानने वाल (subject) प्रमाता।

ग्राह्य—object—प्रमेय—जिस वस्तु को जाना जाता है।

चित्—यह व्यक्तिगत चैतनता का नाम है। चित् ही जब अन्तमुर्ख होकर चेतन पद पर आरूढ़ हो जाता है, तो वह चिति कहलाता है, चित् ही अन्तःकरण है।

चिति—चेतन शक्ति—अर्थात् चित्ति शक्ति प्रकाश रूपा है। यह वह शक्ति है, जिसे चिदानन्द रूपा तथा परा शक्ति भी कहते हैं।

चेतन—चेतन उस चैतन्य पुरुष का द्योतक है, जिसे शिव भी कहा जाता है।

चिन्ता—विचार

चितिचक्र—संवित् चक्र

चमत्कार—विमर्श का ही दूसरा नाम चमत्कार है।

निमीलन समाधि—नेत्र पट बन्द करने पर जो अन्तमुर्मुख समाधि की दशा प्राप्त होती है। इस समाधि दशा के उपरान्त ही पूर्ण अहन्ता की दशा प्राप्त होती है। अर्थात् नेत्रपट बन्द किये हुए यह अन्तर्मुख समाधि की दशा है। इसमें साधक व्यक्तिगत भाव से ऊपर उठ कर पूर्ण अहन्ता के स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।

निभालन—आदि कोटि-हृदय, और अन्तकोटि-द्वदशान्त तक, जब प्राण बाहर जाते, तथा वहां से लौटते हैं, उन दोनों संधि स्थानों पर, प्राण के उठने, और शान्त होने पर निभालन करना, अर्थात् मनोयोग पूर्वक उसको आवधान दृष्टि से देखते रहना आद्यान्त कोटि निभालन है।

निमेष—आंखों को बन्द करना जब शक्ति संकुचित होती है, अर्थात् संसार विलीन हो जाता है।

नियति—जीव की स्वातन्त्र्य शक्ति का तिरस्कार करने वाला तत्त्व नियति कहलाता है, जिसके कारण जीव नियमित कार्यों के करने में प्रवृत होता है।

तुरीय—चार प्रकार की अवस्थाएं हैं, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय जिस अवस्था में दस इन्द्रियों द्वारा जागतिक व्यापार सम्पन्न होता है, उसे जाग्रत अवस्था कहते हैं। जिस अवस्था में व्यवहार की निष्पत्ति होती है, उसे स्वप्न अवस्था कहते हैं। स्वप्न में विद्यमान, अन्तःकरण-वृति का लय होने पर सब इन्द्रियों का उपरम जिस अवस्वा में उदित होता है उसका नाम सुषुप्ति है। इन तीनों से विलक्षण एक अवस्था है उसे तुरीय कहते हैं। यही अहन्ता का स्वरूप है। सारे जगत की एक मात्र विश्रान्ति ही तुरीय अवस्था है। यह सब अवस्थाओं के मध्यव्यापी दशा है। इसमें "उदान" वायु सुषुम्ना मार्ग में उल्लसित होकर ऊर्ध्व दिशा की ओर अग्रसर होने लगती है।

तुरीयातीत दशा—यह दशा तुरीय अवस्था से भी ऊपर है, तुरीयातीत दशा में सारा विश्व अपना ही स्वरूप भासता है। यही पूर्ण अहन्ता का स्वरूप है।

देश—space, अन्तराल।

दिकचरी चक्र—दिकचरी शक्ति का स्वभाव है—वहिष्करण। इसके द्वारा जो शिव का अभेद ज्ञान है, वह आवृत हो जाता है तथा भेद विचार तथा भेद प्रथा प्रकट हो जाती है।

पञ्चकृत्य—सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और निग्रह यह पाँच कृत्य हैं।

प्राण—प्राण पाँच प्रकार के होते हैं, प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान। नासा पुटो से जो वायु बाहर की ओर जाती है उसे प्राण वायु कहते हैं। जो वायु नासा पुटों से अन्दर की ओर जाती है उसे अपान वायु कहते हैं। जीवन के लिये आवश्यक अत्यन्त महत्वपूर्ण समान वायु शरीर के मध्य में पाई जाती है। भोजन की पाचन क्रिया को यही सम्पन्न करती है। उदान वायु ऊपर की ओर जाती है। व्यान वायु शरीर के समस्थ भागो में व्यापक होती है। वास्तव में यह समस्थ प्राण शक्ति रूप में ही जाने जाते हैं। यही प्रमार्थ पथ में सहायक होते हैं। परम पद की प्राप्ति के हेतु हैं।

पति—पति से अभिप्राय परम शिव से है यह सर्वज्ञत्व, स्वातन्त्र्य आदि गुणों से सम्पन्न होता है। शिव नित्य मुक्त है और स्वभाव-सिद्ध है, तथा नित्य निर्मल है, इसे ही परम तत्व, परम पद, पर संवित की संज्ञा से पुकारा जाता है।

परमशिव—सृष्टि के आदि में अनादिकाल से जो अव्यक्त, पूर्ण, निराकार, और शून्य स्वरूप, तत्वातीत प्रपञ्चातीत तथा व्यवहार पथ से भी अतीत वाणी और मन के अगोचर हैं वही परम शिव है। (परम शिव में अपृथक सिद्ध होकर रहने वाला विशेषण है, न तो शिव शक्ति से भिन्न है और ना शक्ति शिव सेपृथक है, दोनों की नितान्त एकता बनी रहती है।) परमशिव आनन्दमय घनीभूत प्रकाशरूप है।

परप्रमाता—परप्रमाता ही परमशिव है।

परावाक—शास्त्रों में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी-चार प्रकार की वाणियों का उल्लेख मिलता है, वैखरी बोल चाल में आने वाली वाणी है, इसका उच्चारण कण्ठ से होता है। वैखरी के सब वर्णों को विगलित कर, मध्यमा में नादाभास में परिणत करना एवं तदन्नतर पश्यन्ती से विशुद्ध नादमय ज्योति में प्रकाशित करना। पश्यन्ती से परा में जाकर शब्द अर्थात् नाद ब्रह्मरन्ध्र से कुछ ऊपर जाकर लीन हो जाता है। परावाक शक्ति पूर्णाहन्तामयी परमैश्वर्य रूपा है।

पराशक्ति—यह नित्या, परमानन्द स्वरूपिणी तथा चराचर जगत की बीज रूप : है, यही परा संवित् शक्ति चिति है।

पशु—अणु परिच्छिन्न रूप तथा सीमित शक्ति से समन्वित जीव पशु कहलाता है।

पाश—पाश का अर्थ है बन्धन जिसके द्वारा शिव स्वरूप होने पर भी जीव पशुत्व को प्राप्त होता है। इसे ही शिव का निग्रह या पिधान कहते हैं।

पश्यन्ती—पश्यन्ती वाणी मध्यमा से भी सूक्ष्मतर है, यह अचला और निस्पन्द है यह स्वप्रकाश तथा संविद्रूपा हैं।

पुर्यष्टक—पञ्चतन्मात्राओ एवं मन अहंकार तथा बुद्धि के समूह से बना सूक्ष्म शरीर, यह प्रति पुरुष में नियत सूक्ष्म देह को कहते हैं।

प्रकाश—यह प्रकाशत्मक शिव के स्वरूप ज्ञान का उद्योधक है।

प्रकृति—शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्वों का मूल कारण प्रकृति है।

प्रलयाकल—प्रलयाकल दशा में शरीर पात होने से माययीमल तो नहीं रहता, परन्तु आणव तथा कार्ममल की सत्ता बनी रहती है। अर्थात् यह जीव के स्थूल व सूक्ष्म शरीर उत्पन्न कराने के हेतु बने रहते हैं। यह माया तत्व में स्थित शून्य के प्रमाता है।

बन्ध—शिव तत्त्व का अज्ञान।

बैन्दवीकला—अम्मा कला अथवा स्वातंत्र्य शक्ति।

ब्रह्मनाड़ी—मध्य नाड़ी, सुषुम्ना नाड़ी अथवा ब्रह्म नाड़ी एक ही बात है।

भैरवमुद्रा—अर्थात् अविकल्प भूमि।

भूचरी चक्र—भूचरी शक्ति का स्वभाव है—भाववर्ग या प्रमेय सत्ता। यह अपनी पारमार्थिक सर्वात्मा को आच्छादित करती है और प्रमेय वर्ग को प्रकाशित करती है।

भट्टारक—आदर सूचक शब्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

भूमिका—अभिनय करने वाले पात्र।

भुवन—जगत।

मध्यमा वाणी—यह वाणी वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्म होती है और उसका व्यापार भीतरी होता है। वह सूक्ष्म प्राण शक्ति के द्वारा परिचालित होती है। चिन्तन का कार्य यह मध्यमा वाणी करती है। इस वाणी विशेष में शब्द की मानसिक क्रिया होती है, अर्थात् वक्ता बोलना चाहता है और बोलने के लिये वह शब्द ढूंढकर प्रकट करना चाहता है, यही "मध्यमा" वाक का क्षेत्र है।

मध्यधाम—ब्रह्म नाड़ी–अथवा मध्यधाम एक के ही नाम हैं। यह प्राण-अपान का उत्पत्ति-स्थान है।

मन्त्र—कुछ शुद्ध वर्णों के संग्रह से मन्त्र बनते हैं। मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। मन्त्र जप का भली-भांति विधिपूर्वक अनुष्ठान होने पर इससे परमात्मा का प्रकाश और इष्ट देव का साक्षात्कार होता है। जिन्होंने शुद्ध विद्या का अनुभव किया उन्होंने ही वास्तव में मन्त्रों के स्वरूप को जाना है। महान् संवित् रूपी सरोवर में गोता-डुबकी लगाने से ही मन्त्र-शक्ति का अनुभव हो सकता है।

मंत्रेश्वर—ईश्वर तत्व के प्रमातृ वर्ग को मन्त्रेश्वर कहते हैं।

मन्त्र महेश्वर—सदा शिव तत्व के प्रमातृ वर्ग को मन्त्र महेश्वर कहते हैं।

माया—माया शक्ति "अहम्" और "इदम्" को पृथक पृथक कर देती है अहमंश हो जाता है पुरुष और इदमंश प्रकृति।

माया प्रमाता—जीव अथवा पशु प्रमाता।

मायीय मल—माया से युक्त मल जो कि जीव के स्थूल व सूक्ष्म शरीर उत्पन्न कराने का हेतु है, अर्थात् वेध वस्तु को अपने स्वरूप से भिन्न समझना ही मायीय मल है।

मुक्ति—शिवत्वलाभ, आत्मानुभूति, विश्वोत्तीर्ण, परम शिव की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है, मुक्ति स्वात्म चेतनता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जीव को अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्र शक्ति से परमशिव के साथ जो एक भावापत्ति है। वही मुक्ति है।

राग—नित्य तृप्तित्व गुण के संकोच का कर्ता "राग" तत्व कहलाता है, जिससे जीव विषय से अनुराग करने लगता है।

रोधशक्ति—परमेश्वर की यह वह शक्ति है, जिससे वे जीवों के स्वरूप का तिरोधान करते हैं। यह पाशों में अधिष्ठित रहती है।

वह्नि—वह्नि का अभिप्राय अनुप्रवेश क्रम द्वारा संकोच भूमि है षष्ठवक्र का मूल स्थान ही वह्नि है क्योंकि यह संकोच करता है। षष्ठवक्र (गुदाद्वार) या वह्नि संकोच स्थान है।

नोट—वह्नि और विष के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है।

वामेश्वरी—चिति स्वरूपा महाशक्ति भगवती "वामेश्वरी" नाम धारण करती है, क्योंकि यह संसार को वमन करती है। तथा संसार में विरुद्ध स्वरूप को प्रकट कर उसी के द्वारा अपने स्वरूप को इच्छादित कर लेती हैं।

विकल्प—जीव की भेदयुक्त-संकुचित भावना।

विकल्पक्षय—जीव का मन मायिक विचारों में निमग्न रहता है और दुःख को प्राप्त होता है। विकल्पक्षय के अभ्यास का उद्देश्य है मन को क्षोभ से हटाना अथवा मानसिक विक्षिप्तता से मन को परे करना और आत्म-चिन्तन का अभ्यास करना:

विज्ञानाकल—विज्ञानाकल नाम वाले कृतृता से रहित अर्थात् अहम् विमर्श रहित शुद्ध बोध स्वरूप प्रमाता लोग हैं यह जीव देह इन्द्रिय आदि से शून्य हैं। विज्ञानाकल प्रमाताओं में कर्म वासना नहीं रहती उन्होंने विवेक और ज्ञान के बल से यह अवस्था प्राप्त की होती है, माया तत्व से ऊपर और शुद्ध विद्या तत्व से नीचे कर्तृत्व से शून्य तथा शुद्ध बोधात्मा विज्ञानाकल है।

विगलन—शिथल होना।

विग्रह—शरीर।

विग्रही—आत्मा।

विद्या—संकुचित सर्वज्ञत्व शक्ति।

विमर्श—विमर्श का अर्थ है, पूर्ण अकृत्रिम अहम् की स्फूर्ति, इसी की चित्, चैतन्य स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द, आदि अनेक संज्ञायें हैं।

विमर्श शक्ति में निखिल प्रपञ्च विलीन रहता है, उसका आश्रय लिये बिना आत्मज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता। परमेश्वर अपनी अधीन स्वकीय शक्ति को देखकर अपने स्वरूप की उपलब्धि करते हैं। अन्यथा प्रकाश रूप परमेश्वर जड़वत् हैं। अथवा सुप्त हैं। प्रकाश व शिव, विमर्श व शक्ति के संयोग से ही विश्व का निर्माण होता है। अर्थात् यह दोनों विभिन्न हैं। विमर्श का स्वभाव फैलना है, प्रकाश का स्वभाव विश्राम है।

सिसर्ग...विमर्श और विसर्ग एक रूप हैं।

विश्वम्—सदाशिव से लेकर पृथ्वी तत्त्वों का समूह।

विश्वमयम्—विश्व से पूर्ण।

विषस्थान—विष का अर्थ व्यापन—फैलाव—षष्ठवक्त्र का अन्त है। बिषस्थान। विकासस्थान है जो षष्ठवक्त्र का अन्त है।

व्युत्थान—यह समाधि का विपर्यय शब्द है, समाधि की विपरीत दशा को ही व्युत्थान काल कहा है।

शक्तिपात— मलों को हटाने के लिये परम शिव की अनुग्रह शक्ति अनिवार्य है, इसके बिना मलों का क्षय नहीं हो सकता, इसे ही शक्तिपात कहते हैं। भगवत् अनुग्रह से ही जीव भवबन्धन से मुक्त होकर शिवत्व लाभ प्राप्त करता है। परम पद की प्राप्ति के लिये कोई उपाय नहीं केवल भगवत् शक्तिपात के द्वारा स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव हो जाता है।

शक्ति संकोच—शक्ति जब संकोच को धारण करती है, उसे शक्ति संकोच कहते हैं।

शिव—चैतन्यात्मक रूप का नाम है शिव।

शिवभट्टारक—परम शिव।

शुद्धाध्वा—सात्त्विक जगत शुद्ध अध्वा का उपादान कारण है। शिवतत्त्व के अन्तर्गत जितने तत्त्व हैं उन्हें शुद्धाध्वा कहा गया है। वह पाँच हैं, शिवतत्त्व, शक्तितत्त्व, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या तत्व।

शून्य प्रमाता—शून्य प्रमाता वह प्रमाता हैं जो कि बिलकुल शून्य में ही पड़े होते हैं। जिन्हें अहम् और इदम् का कुछ भी भान नहीं रहता जैसे सुषुप्ति अवस्था में।

शून्य भूमि—वह स्थल जहाँ पर सब कुछ शून्य ही शून्य है।

षटत्रिशंत्तत्व—तन्त्र शास्त्र के अनुसार तत्त्वों की संख्या ३६ है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, (पंचज्ञानेन्द्रय) वाक, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (पंचकर्मेन्द्र), शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध (पंचविषय), आकाश, वायु, वह्नि, सलिल तथा पृथ्वी।

संविदभट्टारिका—पर संविद, चिति अर्थात् पराशक्ति।

सकल—सकल प्रकार के जीव कार्ममल, आणवमल और मायीय मल से अवृत रहते हैं। यह माया भूमि के प्रमाता हैं। यह जीव देह इन्द्रियों आदि से शून्य हैं। यह प्रलयाकल अवस्था अर्थात् माया के गर्भ में पड़े रहते हैं, इनमें कर्म वासना रहती है। इसलिये नूतन सृष्टि में वह प्रमाता फिर देह और इन्द्रियाँ प्राप्त करके उत्पन्न होते हैं।

सदाशिवतत्व—सदाशिवतत्त्व में ग्राह्य विश्व भेदाभेद रूप है, क्योंकि यहाँ इदन्ता किञ्चिन्मात्र उन्मेष को प्राप्त है और अहन्ता द्वारा इच्छादित है। यहाँ के प्रमातृवर्ग को मन्त्रमहेश्वर कहते हैं। इनके अधिष्ठाता भगवान् सदाशिव भट्टारक हैं।

सदाशिवभट्टारक—सदाशिव तत्त्व के अधिष्ठातृ देवता सदाशिव भट्टारक हैं।

समावेश—मन को क्षोभ से हटाकर, मानसिक विक्षिप्तता से मन को परे करके आत्म चिन्तन का अभ्यास करे। ऐसा अभ्यास चित् को विश्रान्त करने के लिये होता है। इसी अभ्यास के द्वारा समावेश दशा की प्राप्ति होती है।

सिद्ध—विश्वसिद्धि अर्थात् जगत को प्रकट करना।

स्थिति—किसी पद में स्थिति हो जानी, अथवा ठीक दशा में रखना या रखे जाना।

स्वातन्त्र्य—स्वातन्त्रय शक्ति अर्थात् चिति शक्ति।

ह—ह शब्द शक्ति का सूचक है।

हठपाकक्रम—हठपाक की विधि से अथवा अलंग्रास की युक्ति से, आग्रहपूर्वक बलात्कारेण वस्तुओं को चिद्रूप ही कर लेना अथवा अपने से भिन्न नहीं रहने देना। हठ पाक की विधि से अथवा अलंग्रास की युक्ति से चित् अग्नि से दग्ध किया जावें, तो अनुग्रह से युक्त योगी को आवरण के हट जाने पर पूर्णता का लाभ होता है।